मनोरंजन पुस्तकमाला-३८

संपादक

श्यामसुंदरदास, बी० ए०

हिंदी निबंधमाला

पहला भाग

संग्रहकर्ता

श्यामसुंदरदास, बी० ए०



काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की अनुमति से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

संशोधित संस्करण] सं० १९८७ [मूल्य १)

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch

निवेदन

हिंदी में उत्तम कोटि के निबंधों का कोई ऐसा संग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ जो भावों तथा भाषा के विचार से उच्च कोटि का हो और जो ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के हाथ में इस उद्देश्य से दिया जा सके कि वे उसे आदर्श मानकर अपनी लेखन-शैली तथा विषय-प्रतिपादन रीति को सुधार सकें। इस अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से यह संग्रह प्रस्तुत किया गया है। पहले भाग में अपेक्षाकृत सरल लेखों का संग्रह है तथा दूसरे भाग में उससे कठिन लेखों का संग्रह है। भाषा की कठिनता या सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं है। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और पदों की जटिलता तथा इन गुणों की न्यूनता ही भाषा को कठिन या सरल बनाती है। यही उद्देश्य सामने रख-कर यह संग्रह उपस्थित किया गया है।

श्यामसुंदरदास

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
(१) आपत्तियों का पर्वत—श्रीयुत केशवप्रसाद सिंह	...	१—१२
(२) मित्र-लाभ—श्रीयुत गणपत जानकीराम दूबे	...	१३—२२
(३) राजा भोज का सपना—राजा शिवप्रसाद		२३—४३
(४) क्रोध—श्रीयुत रामचंद्र शुक्ल	...	४४—५१
(५) रामलीला—श्रीयुत माधवप्रसाद मिश्र		५२—६३
(६) बुँदेलखंड-पर्य्यटन—श्रीयुत कृष्णबलदेव वर्म्मा	...	६४—८०
(७) बातचीत—श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट	...	८१—८६
(८) प्रकृति-सौंदर्य—श्रीयुत गणपत जानकी-राम दूबे	...	९०—१०३
(९) समाज और साहित्य—श्रीयुत श्याम-सुंदरदास	...	१०४-११४
(१०) करुणा—श्रीयुत रामचंद्र शुक्ल	...	११५-१३१
(११) कवि और कविता—श्रीयुत महावीरप्रसाद द्विवेदी	...	१३२-१४७
(१२) सच्ची वीरता—सर्दार पूर्णसिंह	...	१४८-१६७



हिंदी निबंधमाला

पहला भाग

(१) आपत्तियों का पर्वत

एक स्वप्न

जगत्प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी महात्मा सौक्रेटीज का मत था कि यदि संसार के मनुष्य मात्र की आपत्तियाँ एक ठौर एकत्र की जायँ और फिर सबको बराबर बराबर हिस्सा बाँट दिया जाय तो इस प्रबंध से भी उन मनुष्यों को संतोष नहीं हो सकता जो पहले अपने को अत्यंत अभागा वा विपद्ग्रस्त समझते थे, क्योंकि वे शीघ्र ही यह विचारने लगेंगे कि मेरी पूर्व दशा ही अच्छी थी। इसका कारण यह है कि जो दशा अच्छी वा बुरी विधना की ओर से हमें मिली है वह या तो (१) हमारी सहन-शक्ति के योग्य होती है, या (२) उसमें रहने से हम उसके सहन करने में अभ्यस्त हो जाते हैं, और इस कारण दोनों अवस्थाओं में से कोई भी हमें नहीं खलती। महाकवि होरेस भी इस विषय में सौक्रेटीज से सहमत थे। इन्होंने यहाँ

तक लिखा है कि जिन कठिनाइयों वा यातनाओं में हम पिसते रहते हैं वे उन आपत्तियों की अपेक्षा बहुत ही न्यून हैं जो हमको अपनी दशा दूसरे से परिवर्तन करने में मिल सकती हैं।

मैं अपनी आरामकुरसी पर बैठा उक्त दो कथनों पर विचार कर रहा था और अपनी मानसिक तरंगों में निमग्न था, कि मुझे कहीं झपकी सी आ गई और मैं तुरंत खर्राटे लेने लग गया। सोया सोया देखता क्या हूँ कि मैं एक रमणीक मैदान में जा पहुँचा हूँ जिसके चारों ओर ऊँचे ऊँचे पर्वत श्रेणीबद्ध खड़े हैं। इन पर्वतों ने हरी वनस्पतियों से अपने प्रत्येक अंग को ऐसा ढक रखा है कि क्या मजाल जो कहीं भी खुला दिखाई दे जाय। इनके ढाल पर छोटे छोटे वृक्षों के बीच में कहीं कहीं कोई बड़ा वृक्ष देखने में बहुत भला लगता था। यद्यपि प्रकृति रूपी माली ने इस मैदान में एक भी बड़ा वृक्ष रहने नहीं दिया है, पर मैदान की हरी हरी घास वायु के हिलोरों में लहलहाती हुई कैसी प्यारी लग रही है ! मैं इन्हीं मानसिक भावों की तरंगों में अपने आपको भूल प्रकृति की अनुपम शोभा देख रहा था कि सहसा मुझे कुछ शब्द सुनाई पड़े। ध्यान देकर सुनने से जान पड़ा कि जैसे कहीं ढिंढोरा पिटता हो। पास के एक मनुष्य से पूछने पर मालूम हुआ कि भगवान् चतुरानन ने आज्ञा दी है कि मनुष्य मात्र आकर अपनी अपनी आपत्तियाँ इस स्थान में फेंक जायँ। इस कार्य के लिये यह मैदान नियत किया गया है। यह सुन मैं भी एक

कोने में खड़ा हो इस कौतुकमय लीला को देखने के लिये प्रस्तुत हो गया। यह देखकर मुझे एक प्रकार की प्रसन्नता होती थी कि सारे मनुष्य क्रमश: आ आकर अपनी अपनी विपत्ति की गठरी मैदान में फेंक रहे हैं। यह ढेर थोड़ी ही देर में इतना बड़ा हो गया कि आकाश को छूता दिखाई पड़ने लगा।

इस भीड़भाड़ में एक दुबली पतली चंचला स्त्री बड़ा उत्साह दिखा रही थी। ढीला ढाला वस्त्र पहने हाथ में म्यागनीफाइंग ग्लास लिए वह इधर उधर घूमती दिखाई दे रही थी। उसके वस्त्र में भूत प्रेत के मन:कल्पित चित्र बेल बूटों में कढ़े थे।

जब उसका वस्त्र वायु में इधर उधर उड़ता तब बहुत सी विचित्र ढंग की हास्यजनक एवं भयानक कल्पित मूर्त्तियाँ उसमें दिखाई पड़तीं। इसकी चेष्टा से उन्माद तथा विह्वलता के कुछ चिह्न झलक रहे थे। लोग इसे भावना कहकर पुकारते थे। मैंने देखा कि यह चंचला प्रत्येक मनुष्य को अपने साथ ढेर के पास ले जाती, बड़ी उदारता से उनकी गठरी कंधे पर उठवा देती और अंत में उसके फेंकने में भी पूरी सहायता देती है। मेरा हृदय यह दृश्य देख, कि सभी मनुष्य अपने विपद्भार के नीचे दब रहे हैं, भर आया। आपत्तियों का यह पर्वत देखके मेरा चित्त और भी चलायमान हो रहा था।

इस स्त्री के अतिरिक्त और कई एक मनुष्य इस भीड़ में मुझे विचित्र दिखाई पड़े। एक को देखा कि वह चीथड़ों की

एक गठरी अपने लबादे के भीतर बड़ी सावधानी से छिपाए हुए आया है। जब उसे फेंकने लगा तब मैंने देखा कि अपने दारिद्र्य को फेंक रहा है। एक दूसरे को देखा कि बड़े पाश्चात्ताप के साथ अपनी गठरी फेंककर चलता हुआ। मैंने उसके जाने पर उसकी गठरी खोलकर देखी तो मालूम हुआ कि दुष्ट अपनी अर्द्धांगिनी को फेंक गया है जिससे उसको सुख की अपेक्षा अति दुःख प्राप्त होता था। इसके अनंतर दिखाई दिया कि बहुतेरे प्रेमीजन अपनी अपनी गुप्त गठरी लिए आ रहे हैं।

पर सबसे आश्चर्यजनक बात यह थी कि यद्यपि ये लोग अपनी अपनी गठरियाँ फेंकने के हेतु लाए थे, और उनके दीर्घ निःश्वास से जान पड़ता था कि उनका हृदय इस बोझ के नीचे दबकर चूर चूर हुआ जाता है, पर उस ढेर के निकट पहुँचने पर उनसे फेंकते नहीं बनता।

ये लोग कुछ काल तक खड़े न जाने क्या सोचते रहे। उनकी चेष्टा से अब ऐसा जान पड़ने लगा कि उनके चित्त में मानों बड़ा संकल्प विकल्प हो रहा है। फिर शीघ्र ही उनका मुख प्रफुल्ल दिखाई पड़ने लगा और वे अपनी अपनी गठरी ज्यों की त्यों लिए वहाँ से चलते दिखाई दिए। मैं समझ गया। इन लोगों ने तर्क वितर्क के पश्चात् यही निश्चय किया कि अपनी अपनी बला अपने पास ही रखना भलमनसाहत है। इसी से ये सब अपनी गठरियाँ अपने घर लिए जा रहे हैं। मैंने

देखा कि बहुत सी मनचली बूढ़ी स्त्रियाँ, जिनके मन की अभी सुख-संभोग से तृप्ति नहीं हुई थी और जो चाहती थीं कि हम सदा नवयौवना ही बनी रहें, अपनी झुर्रियाँ फेंकने के लिये आ रही हैं। बहुतेरी अल्पवयस्का छोकड़ियाँ अपना काला वर्ण फेंक रही हैं और यह चाहती हैं कि मेरा रंग गोरा हो जाय। किसी ने अपनी बड़ी नाक, किसी ने नाटा कद और किसी ने अपनी बड़ी पेटी फेंक दी है और यह प्रार्थी हुई हैं कि मेरी तोंद की परिधि कुछ कम हो जाय या यदि रहे भी तो कुछ उँचाई अधिक मिल जाय। किसी ने अपना कुबड़ापन प्रसन्नतापूर्वक ढेर में फेंक दिया है। इसके पश्चात् रोगियों का दल आया जिसने अपना अपना रोग अलग कर दिया। पर मुझे सबसे आश्चर्यजनक यह जान पड़ा कि मैंने इन सब मनुष्यों में किसी को भी अब तक ऐसा नहीं देखा जो अपने दोषों वा अपनी मूर्खता से अलग होने आया हो। मैंने पहले सोचा था कि मनुष्य मात्र इस समय अवसर पा अपना अपना मनोविकार फेंक जायँगे।

अब मैंने देखा कि कोई कोई मनुष्य पत्र के बंडल बगल में दबाए बड़ी व्यग्रता से फेंकने को दौड़े आ रहे हैं। क्यों भाई! यह पत्रों का बंडल कैसा? मालूम हुआ कि यह दफा १२४ ए० है जिसने इन महाशयों को चिंताकुल कर रखा है, एवं इनके व्यापार में बाधा डाल रखी है। इसके अनंतर एक मूर्ख को देखा कि वह अपने अपराधों को बंडल में बाँधकर

फेंकने ले आया है, किंतु अपराधों को फेंकने के बदले अपनी चेतना शक्ति को फेंक देता है। एक दूसरे महापुरुष अविद्या के स्थान में नम्रता को पटककर भागे जाते हैं।

जब इस प्रकार मनुष्य मात्र अपने अवगुणों की गठरियाँ फेंक चुके, तब वह चंचला युवती फिर दिखाई पड़ी, पर इस बार वह मेरी ओर आ रही है। यह देख मेरे जी में अनेक प्रकार के विचार उठने लगे। पर उसकी मदमाती चाल कुछ ऐसी भली मालूम हुई कि मैं एकटक उसी ओर देखता रहा। उसके अंग अंग मे ऐसी चंचलता भरी थी कि चलने में एक एक अंग फड़कता था। मैं यह देख ही रहा था कि वह आ पहुँची और जैसे कोई किसी को दर्पण दिखावे, उसने अपने बृहद्दर्शक यंत्र को मेरे सम्मुख किया। मैं अपने चेहरे को उसमें देखकर चौंक पड़ा। उसकी अपरिमित चौड़ाई पर मुझे बड़ी ग्लानि हुई और उसको उपमुख के समान उतारकर मैंने भी फेंक दिया। संयोग से जो मनुष्य मेरी बगल में खड़ा था उसने अभी कुछ देर पहले अपने बेढब लंबे चेहरे को अलग कर दिया था। मैंने सोचा कि मुझे अपने लिये दूसरा चेहरा कहीं दूर खोजने नहीं जाना पड़ेगा और उसने भी यही सोचा कि उसे भी पास ही अपने योग्य सुडौल चेहरा मिल जायगा। मनुष्य मात्र अपनी आपत्तियाँ फेंक चुके थे। इस कारण अब उन सबको अधिकार था कि अपने लिये जो चाहें ढेर मे से ले सकते हैं।

वास्तव में मुझे यह देख बड़ी प्रसन्नता होती थी कि संसार के सब मनुष्यों ने अपनी अपनी विपद फेंक दी है। उनकी आकृति से संतुष्टता का लक्ष्य हो रहा था। अपने कार्य से छुट्टी पा सभी इधर उधर टहल रहे थे। पर अब मुझे यह देख आश्चर्य हो रहा था कि बहुतों ने जिसे आपत्ति समझकर अलग कर दिया था उसी के लिये बहुतेरे मनुष्य टूट रहे थे, एवं मन ही मन यह कहते थे कि ऐसे स्वर्गीय पदार्थ को जिसने फेंक दिया है वह अवश्य कोई मूर्ख होगा। अब भावना देवी फिर चंचल हुईं और इधर उधर दौड़ धूप करने लगीं। सबको फिर बहकाने लगीं कि तू अमुक पदार्थ ले, अमुक वस्तु न ले।

इस समय सारी भीड़ में जो कोलाहल मच रहा था उसका वर्णन नहीं हो सकता। मनुष्य मात्र में एक प्रकार की खलबली फैल रही थी। क्या बालक, क्या वृद्ध, सभी अपने अपने मनोवांछित पदार्थ के ढूँढ़ निकालने में दत्तचित्त हो रहे थे।

मैंने एक वृद्ध को, जिसे अपने एक उत्तराधिकारी की बड़ी चाह थी, देखा कि एक बालक को उठा रहा है। इस बालक को उसका पिता उससे दुखी होकर फेंक गया था। मैंने देखा कि इस दुष्ट पुत्र ने कुछ देर बाद उस वृद्ध का नाकों में दम कर दिया। वह बेचारा अंत में फिर यही विचारने लगा कि मेरा पूर्व क्रोध ही मुझे मिल जाय। संयोग से इस बालक के पिता से उसकी भेंट हो गई। इस वृद्ध ने उससे सविनय कहा कि महाशय! आप अपना पुत्र ले लीजिए और मेरा

क्रोध मुझे लौटा दीजिए। पर अब ऐसा करने में वह समर्थ न था। एक जहाजी नौकर ने अपनी बेड़ी फेंक दी थी और बदले में वात रोग की गठरी उठा ली। पर इससे उसका स्वरूप ऐसा विचित्र हो गया था कि देखते नहीं बनता था। इसी प्रकार सभी ने कुछ न कुछ हेरा फेरी की। किसी ने अपने दारिद्र्य के पलटे में कोई रोग पसंद किया, किसी ने क्षुधा देकर अजीर्ण उठा लिया। बहुतेरों ने अपनी पीड़ा के बदले कोई चिंता ले ली। पर सबसे अधिक स्त्रियाँ ही इस हेरा फेरी में दिखाई देती थीं। इन्हें अपने नाक, कान वा चेहरे मोहरे के चुनने में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती थी। कोई अपने मुख पर के तिल से लंबे लंबे केश बदल रही हैं, किसी ने पतली कमर के बदले चौड़ा सीना लेने की इच्छा प्रकट की है। किसी ने अपनी कुरूपता देकर वेश्यावृत्ति ग्रहण करना ही सस्ता समझ लिया है। जो हो, पर ये अबलाएँ अबला होने के कारण वा अपनी तीक्ष्णता के कारण अपनी नवीन दशा को शीघ्र ही समझ जायँगी एवं अपनी पूर्व दशा को प्राप्त होने और नवीन के त्यागने में सबसे पहले तत्पर हो जायँगी।

मुझे सबसे अधिक दया उस कुबड़े पर आती है जिसने अपना कुबड़ापन बदलकर पैर का लँगड़ापन पसंद किया था।

अब मैं अपना वृत्तांत सुनाता हूँ। मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरे बगलवाले मनुष्य ने मेरा छोटा मुख अपने लिये चुन रखा था। उसने अवसर पाते ही मेरा चेहरा उठा लिया और

प्रसन्नतापूर्वक अपने चेहरे पर लगा लिया। मेरा गोल चेहरा लगाते ही वह ऐसा कुरूप तथा हास्यजनक दिखाई पड़ने लगा कि मैं हँसी न रोक सका। वह भी मेरी हँसी ताड़ गया और अपने किए पर अपने मन में पछताने लगा। अब मेरे मन में भी यह विचार उठा कि कहीं मैं भी वैसा ही बेढङ्गा न दिखाई पड़ता होऊँ। नवीन चेहरा पाकर मैंने अपना माथा खुरचने के लिये हाथ बढ़ाया तो माथे का स्थान भूल गया। हाथ होठों तक पहुँच कर रुक गया। नाक के स्थान का भी ठीक ठीक अनुभव न था। इसी से उँगलियों की कई बार ऐसी ठोकर लगी कि नेत्रों में जल भर आया। मेरे पास ही दो मनुष्य ऐसी बेढब सूरतवाले खड़े थे जिन्हें देख देख मैं मन ही मन हँस रहा था।

वह सारा ढेर इस प्रकार मनुष्यों ने आपस में बाँट लिया पर वास्तविक संतुष्टता को वे तिस पर भी न प्राप्त हुए। जो बुद्धिमान् थे उन्हें अपनी मूर्खता का बोध पहले होने लगा। सारे मैदान में पहले से अधिक विलाप और भनभनाहट का शब्द सुनाई देने लगा। जिधर दृष्टि पड़ती थी उसी ओर लोग बिलख रहे थे और ब्रह्मा की दुहाई दे रहे थे। जब ब्रह्मा ने देखा कि अब बड़ा हाहाकार मच गया है और यदि शीघ्र इनका उद्धार न किया गया तो और भी हाहाकार मच जायगा, तब उन्होंने फिर आज्ञा दी कि मनुष्य मात्र फिर अपनी अपनी आपत्तियाँ फेंक दें, उनको उनकी पुरानी आपत्ति दी जायगी।

यह आज्ञा सुन सबके जी में जी आया। सभी लोग जो उपस्थित थे मुग्ध हो गए, एवं जयध्वनि करने लगे। सबने पुनः अपनी अपनी गठरी फेंक दी। इस बार एक विशेषता देखने में आई। वह यह थी कि ब्रह्मा ने उस चंचला स्त्री को आज्ञा दी कि वह तत्क्षण वहाँ से चली जाय। भावना देवी यह आज्ञा पाते ही वहाँ से चल दीं। उसका वहाँ से जाना था कि एक दूसरी स्त्री आती दिखाई पड़ी। पर इसकी उसकी आकृति में इतना अधिक भेद था कि दोनों की तुलना करना कठिन है। पर हाँ, दो चार मोटी मोटी बातों पर विवेचना करके उनका अंतर दिखा देना हम आवश्यक समझते हैं। पहली स्त्री के चंचल नेत्र तथा चाल ढाल ऐसी मनमोहनी थी कि एक अनजान भोले भाले चित्त को मुट्ठी में कर लेना कोई बड़ी बात न थी, पर इस नई स्त्री की आकृति कुछ और ही कह रही थी। इसके देखते ही चित्त में भय तथा सम्मान का संचार उत्पन्न हो आता था और चित्त यही चाहता था कि घंटों इसे खड़े देखा करें। जिस प्रकार विधना ने उसके अंग में चंचलता कूट कूटकर भर दी थी, उसी प्रकार इसके प्रत्येक अंग से शांति तथा गंभीरता बरस रही थी। यदि उसे आप शिशुवत् चंचला कहिए तो इसे आपको अवश्य ही शांति देवी की मूर्ति कहना पड़ेगा। इसके चेहरे से यद्यपि गंभीरता के भाव का लक्ष्य होता था, पर साथ ही एक मंद मुसकान दिखाई देती थी जिसका चित्त पर बड़ा दृढ़ प्रभाव पड़ता था। ज्योंही यह देवी

मैदान में पहुँची, समस्त नेत्र उसकी ओर आकर्षित हो गए। वह धीरे धीरे आपत्तियों के पर्वत पर चढ़ गई। उसका उस ढेर पर चढ़ना था कि वह ढेर पहले की अपेक्षा तिगुना कम दिखाई देने लगा। न जाने इसमें क्या भेद था कि जितनी आपत्तियाँ थीं, सभी कठोरता-रहित और कोमल दिखाई पड़ने लगीं। मैं अति व्यग्र हो इस देवी का नाम पूछने लगा। इस पर एक दयावान् ने झिड़ककर उत्तर दिया, रे मूर्ख! तू क्या इनसे परिचित नहीं है? इन्हीं का नाम धीरता देवी है। अब ये देवी प्रत्येक मनुष्य को उसका पूर्व भाग बाँटने लगीं और साथ ही साथ सबको समझाती जाती थीं कि इस संसार में किस प्रकार अपनी अपनी आपत्तियों को धैर्यपूर्वक सहन करना उचित है। जो मनुष्य उनकी वक्तृता सुनता, वह संतुष्ट हो वहाँ से जाता दिखाई देता था। मैं इस रूपक के देखने में ऐसा निमग्न था कि सारी मनुष्यजाति अपना अपना भाग ले अपने अपने निवास-स्थान को सिधारी, पर मैं वहीं ज्यों का त्यों खड़ा सब लीला देखता रहा, यहाँ तक कि जब उस स्त्री के पास जाने और अपना विपत्ति-भाग लेने की मेरी बारी आई तब भी मैं अपने स्थान से नहीं टसका। इस पर एक आदमी मेरी ओर आता दिखाई पड़ा। मेरे पास आते ही पहले तो वह मुझसे कहने लगा कि "तुम वहाँ क्यों नहीं जाते?" इस पर मैं कुछ उत्तर दिया ही चाहता था कि ऊँ ऊँ ऊँ करके उठ बैठा और नींद खुल गई। नींद खुलते ही नेत्र फाड़ फाड़कर

इधर उधर देखने लगा। न तो कहीं वह रमणीक स्थान था, न कहीं वह स्त्री थी, केवल मैं अपनी शय्या पर पड़ा था। मैं इस विचित्र स्वप्न पर विचार करने लगा। अंत में मैंने यही सारांश निकाला कि वस्तुतः इस संसार में मनुष्य के लिये धैर्यपूर्वक अपनी आपत्तियों का सहन करना, कभी किसी अन्य पुरुष की दशा को ईर्ष्या की दृष्टि से न देखना ही सुख का मूल है।

—केशवप्रसाद सिंह

(२) मित्र-लाभ

जिन लोगों ने ग्रंथ-महिमा का बखान किया है उनमें से अधिकतर लोगों ने ग्रंथों की मित्रों से उपमा दी है, क्योंकि ग्रंथों की श्रेष्ठता पूरी तरह से ध्यान में आने के लिये मित्र के समान अन्य उत्तम उपमा उन्हें नहीं सूझी। सुकरात का कहना है कि "सब लोग घोड़े, कुत्ते, संपत्ति, मान, सम्मान इत्यादि की हवस करके उनके पाने के लिये परिश्रम करते हैं, परंतु मुझे किसी मित्र के समागम का लाभ होने से जितना संतोष होगा उतना उन सब चीजों के मिलकर प्राप्त होने पर भी नहीं होगा।" जिनके पास अतुल संपत्ति है उन्हें इसका कुछ न कुछ तो अंदाज होता ही है कि हमारे पास क्या माल मता है, परंतु उनके मित्र चाहे थोड़े ही क्यों न हों पर वे कितने हैं, इसका ज्ञान उन्हें नहीं होता। किसी ने अगर प्रश्न किया और उन्होंने मित्रों की गिनती करने का यत्न भी किया तो भी वे अपने मित्रों के विषय में इतने उदासीन होते हैं कि जिन्हें कभी उन्होंने पहले मित्रों में गिना था उन्हें छोड़ देते हैं। परंतु यदि अपनी मालियत से मित्रों की तुलना की जाय तो क्या वे अधिक कीमती नहीं साबित होंगे? सब चीजों के मूल्य के विषय में बहुधा सबमें मतभेद होता है परंतु मित्रों के मूल्य के विषय में सबका एक ही मत होता है। अपने पास बहुत सा

धन, अधिकार और सब सुखों के साधन प्राप्त होने से हमारा जो गौरव है उसके द्वारा हम घोड़े, नौकर, चाकर, कीमती वस्त्र इत्यादि खरीद सकते हैं, परंतु इस जीवन में अत्यंत मूल्यवान् और हितकारी मित्र रूपी वस्तु का संग्रह नहीं करते, यह कितनी नासमझी की बात है ? अगर एक पशु मोल लेना हो तो हम बड़ी सावधानी के साथ उसकी प्रवृत्ति, उसकी पुष्टता और स्वभाव की परीक्षा करते हैं परंतु जिस मित्र के समागम से हमारी जीवन-यात्रा के कुछ न कुछ भले या बुरे होने की संभावना अवश्य रहती है उसका चुनाव केवल संयोग-वश ही हम कर लेते हैं।

"जिस समय हमें मनुष्य की आवश्यकता होती है उस समय को छोड़ अन्य समय में दूसरे का समीप होना हमें पसंद नहीं होता" यह बात सच है, क्योंकि सर्वदा दूसरों की संगति का मुहताज रहना अज्ञान की अवस्था का दर्शक है। जिन विचारशून्य लोगों को संतोषपूर्वक एकांत-वास करना नहीं आता उन्हें यदि दूसरों का संग न मिला तो वे कारागार का सा दुःख भोगते हैं। परंतु जो विचारवान् और उद्योगशील हैं वे अकेले में रहते हुए भी बहुजन-समाज की भीड़ में रहने के समान सुखी और आनंदमग्न रहते हैं।

इमरसन का कथन है—"दो मनुष्यों के एकत्र होते ही उनका महत्त्व कम हो जाता है।" इसमें कुछ अर्थ दिखाई नहीं देता। एक जगह उसी ने और भी कहा है—"जहाँ

एक दूसरे का समागम हुआ कि हर एक व्यक्ति के सुंदर गुणों का थोड़ा बहुत लोप कर सुस्वभाव की मंजरी झड़ जाती है और परिमल नष्ट हो जाता है।" क्या यह बात सत्य हो सकती है? अगर ऐसा है तो फिर मित्रता से क्योंकर लाभ हो सकता है? हमारी समझ में तो मित्र-मिलन से इसका विरुद्ध परिणाम होता है। सुस्वभाव रूपी कोमल कमल संकुचित न होकर मित्र-संग के सुख से अधिक विकसित होता है और उसका रंग अधिक चटकीला हो जाता है।

किसी किसी का यह कहना है—'मित्र कभी न कभी शत्रु होगा और शत्रु मित्र होगा, यह समझकर उनसे जितना उचित हो उतना ही बर्ताव रखना चाहिए।' इसमें पहली बात के विषय में किसी का कुछ भी मत हो परंतु दूसरे विधान में बहुत कुछ दूरदर्शिता और सामंजस्य है। कितने ही लोग मित्रों की प्राप्ति करने की अपेक्षा शत्रुओं से शत्रुता मिटाने में अधिक परिश्रम करते हैं और उसमें आनंद मानते हैं। पिथागोरस सबको यह उपदेश करता है—"बहुत लोगों से मित्रता न करो," परंतु यदि हम योग्य मनुष्य का स्नेह संपादन करने में सावधान हैं तो इस उपदेश का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता।

सहस सुहृद जो होंइ तउ, एकहु तजत बनै न।
किंतु शत्रुजन एकहू, सालत हिय दिन रैन॥

सचमुच ही इस संसार में दुर्भाग्यवश उदारचित्त मित्र थोड़े हैं और एक भी क्षुद्र शत्रु हुआ तो वह हमारी हानि करने

के लिये बहुत है। यह बात नहीं है कि हम जिन जिन मनुष्यों से मिलते हैं वे सब के सभी स्वभावतः दुष्ट होते हैं या जान-बूझकर हमें कुमार्ग में लगानेवाले होते हैं किंतु बात यह है कि वे लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि हम दूसरों से क्या बोलते हैं, क्या नहीं बोलते। स्वयं अपने अंत.करण की ओर ध्यान न देकर हमें वे योग्य शिक्षा नहीं देते। अपनी बोलचाल में लड़कपन की बातें और गप शप किया करते हैं। वे यह समझने का प्रयत्न ही नहीं करते कि यदि वे थोड़ा सा परिश्रम भी करें तो उनकी बातचीत थोथी न होकर बोधजनक और आनंदजनक हो सकती है, नीरस और निष्फल न होगी।

हर एक मनुष्य से उसके योग्यतानुसार कुछ न कुछ शिक्षा प्राप्त होती ही है, ऐसी शिक्षा प्राप्त कर लेने की इच्छा भर चाहिए। ऐसे सज्जनों ने चाहे प्रत्यक्ष रूप में हमें कुछ न सिखाया हो तथापि वे अन्य रूप में हमें कुछ न कुछ जताते ही हैं, और स्नेह-भाव के साथ हमारी सहायता करते ही हैं। अगर उन्होंने इनमें से कुछ भी न किया तो उनका समागम केवल समय खोना ही है। ऐसे लोगों की मित्रता तो क्या, उनसे जान पहचान भी न हो तो अच्छा है।

अपने मित्रों और संगी साथियों का चुनाव जितनी बुद्धि-मानी और दूरदर्शिता के साथ हम करेंगे उतनी ही हमारी जीवन-यात्रा सुखमय और सदाचारपूर्ण होगी। अगर हम दुर्जनों का संग करेंगे तो वे हमें खींचकर अपनी नीचता तक

पहुँचा देंगे। सज्जनों का संग करने से सर्वथा हमारा उत्कर्ष ही होगा।

गुणी जनन के संग में, लहत बड़ाई नीच।
सुमन संग ब्यों चढ़त है, सूत देहरा बीच ॥

मित्र-संग्रह के विषय में बहुधा लोग नदी-नाव संयोग की प्रथा पर चलते हैं। इसमें संदेह नहीं कि जो कोई हमें मिल जाय उसके साथ सुजनता और सभ्यता के साथ बर्ताव करना हितकारी है परंतु सभी को सच्चा मित्र समझ लेना उचित नहीं है। कोई हमारे पड़ोस में रहता है, कोई समव्यवसायी है अथवा कोई प्रवास का साथी है तो केवल ऐसे क्षुद्र कारण वश ही उसे अपना मित्र कहना बड़ी भूल है। प्लूटार्क का कथन है कि "ये सब मित्रता की मूर्त्तियाँ और खिलौने हैं, सच्चे मित्र नहीं।"

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यंतरंगं स स्नेह इति कथ्यते ॥ —सुभाषित

अर्थात् जहाँ दरस, परस, श्रवण वा कथन से अंतःकरण द्रवीभूत हो जाता है, वही स्नेह है।

अपना शत्रु कितना ही क्षुद्र क्यों न हो, वह बड़ी से बड़ी हानि पहुँचा सकता है। उसी तरह जिसने दूसरे पर प्रेम किया है उसी के हृदय में सब के लिये प्रेम उपजेगा, ये दोनों बातें चिंतनीय हैं। हर एक व्यक्ति में कुछ न कुछ गुण अवश्य होता है। स्मिथ ने लिखा है—"मैंने लोगों को यह कहते

हुए सुना है कि यह जगत् स्वार्थ और कृतघ्नता से भरा है, परंतु मेरे अनुभव में यह बात नहीं आई। यह कदाचित मेरा सुदैव होगा।" विचार करके देखा जाय तो बहुधा यही अनुभव औरों को भी होगा।

इमरसन की उक्ति है—"इस संसार में हम अकेले हैं। जो लोग यह कहा करते हैं कि इस लोक में हमे अपने मनभाए मित्र मिलेंगे वे मानों स्वप्न देखते हैं। अपने से प्रेम रखनेवाली और अपनी प्रीतिपात्र जो आत्माएँ हैं वे सांप्रत परलोक में निवास करती हैं, यह आशा करते हुए हमें अपने हृदय को शांति देनी चाहिए।"

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानंदनं चेतसः।
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तत् दुर्लभम् ॥

—हितोपदेश

भावार्थ—मित्र नयनों के लिये आनंददायक प्रीति रसायन है, अंतःकरण को आह्लाद देनेवाली वस्तु है; पर जो सुख और दुःख मे एक सा साथ देवे ऐसा मित्र बिरला होता है।

मित्रों के समागम मे हम अपना जीवन सुख और आनंद में व्यतीत करते हैं, इस विषय में एक मत है इसमें संदेह नहीं, तथापि इस पर सर्वथा अवलंब करते नहीं बनता। सच पूछिए तो—

"आत्मैव आत्मनो बंधुः, आत्मैव रिपुरात्मनः।"

हम आप ही अपने मित्र हैं और आप ही अपने शत्रु भी हैं; यही विश्वास करके बर्तना चाहिए।

"इस जगत् में सच्ची मैत्री नहीं है और समान स्थिति के लोगों में जो मैत्री दिखाई देती है उसका मूल्य असलियत से ज्यादा समझने की रीति पड़ गई है। अगर सच्ची मैत्री कहीं हो भी तो ऐसे उच्च नीच स्थिति के मनुष्यों में होगी जिसमें एक के वश में दूसरा रहता हो।" यह बात जो बेकन ने कही है इसके विरुद्ध उसी ने यह भी कहा है—

"हमारा यदि कोई सच्चा मित्र न हो तो यह जगत् निर्जन वन के समान प्रतीत होगा और हमारा जीवन एकांतवास में व्यतीत होने के कारण दुःखदायी होगा। परंतु जब अपनी चित्तवृत्ति और विचारों में उधेड़बुन होने लगती है उस समय मन किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है और हम अँधेरे में जिस प्रकार टटोल टटोल-कर चलते हैं उसी तरह बर्ताव में भी चलते हैं। ऐसे समय मित्रों के समागम से हमें उजाला मिल जाता है और सीधा मार्ग दिखाई पड़ने लगता है; विपत्ति के समय हमारा मन प्रसन्न रहता है। उनके साथ वार्तालाप करने से अपने विचार एक से जारी रहते और अच्छी प्रणाली मिलती है। वे विचार अगर लिखे जायँ तो कैसे होंगे, यह मालूम हो जाता है और अपने आप उनका मनन करने से जितना ज्ञान होता है उतना ज्ञान मित्रों के साथ एक घड़ी भर वार्तालाप करने से हो जाता है और हम अधिकाधिक चतुर और बुद्धिमान् बनते चले जाते हैं।"

मित्रों के साथ निरर्थक विषयों पर वार्तालाप नहीं करना चाहिए। इसके बारे में इपिक्टेटस ऐसा उपदेश करते हैं—

"घोड़े, कुत्ते, कसरत, खाना पीना इत्यादि क्षुद्र विषयों पर बातचीत न करो। परनिंदा अथवा स्तुति-पाठ न करो।" मार्कस आरीलियस ने कहा है—"जिस समय तुम्हें अपना मनोरंजन करना हो उस समय अपने सहवास में रहनेवालों के सद्गुणों का चिंतन करो। वह तीक्ष्ण बुद्धिवाला है, वह सभ्य आचारवाला है, वह उदारहृदय है, इस पर ध्यान दो। इसका कारण यह है कि जो लोग अपने संग रहकर हमेशा आँखों के सामने आते हैं उनके अच्छे गुणों का आदर्श सम्मुख रखकर उसका अनुसरण करने में जैसा आनंद होता है वैसा किसी और तरह से नहीं होता।" परंतु इसके अनुसार बर्ताव करते नहीं बनता। जिन्हें हम अपना मित्र समझते हैं, उनके चेहरे तथा भाषा ही का हमें परिचय होता है किंतु उनके अंतः-करण और शील का हमें बहुधा ज्ञान ही नहीं होता।

जितनी चिंता करके हम मित्र प्राप्त करते हैं उतनी ही चिंता के साथ जुड़ी हुई मित्रता की रक्षा करनी चाहिए। पास्कल का कहना है—"एक के पीठ पीछे दूसरा उसके विषय में क्या कहता है, यह अगर सबको मालूम हो जाय तो संसार में चार मित्रों का भी मिलना कठिन होगा।" यह कदाचित् व्यंग की अत्युक्ति हो इससे उन चारों में से स्वयं एक होने की इच्छा रखो। जिस किसी को तुमने एक बार मित्र कहा उसकी रक्षा करो, सदा उससे मिलने जाओ, क्योंकि जिस मार्ग से कभी कोई जाता आता नहीं है उसमें घास

और काँटे पैदा होकर उस मार्ग का नाम निशान तक नहीं रहने देते। अपने मित्रों के पास आ जाकर उनसे मिल मिलाकर यदि प्रीति रक्षित न रखी जाय तो वह नष्ट हो जाती है। आज यहाँ तो कल वहाँ, इस प्रकार का अस्थिर प्रेम व्यर्थ है।

ऐसा बर्ताव करने का किसी को अधिकार नहीं है जिससे मित्रता के नाते किसी को जरा भी असंतोष पैदा हो जाय। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जब तक उनके मित्रों की मित्रता नष्ट होने से वे मित्र ही नहीं रह जाते तब तक उनकी असली योग्यता का ज्ञान उन्हें नहीं होता। ऐसे मित्रों का पीछे सम्मान करना निष्फल है। "मृत मनुष्य के आदर के हेतु उसके लिये बड़ी कीमती छतरी बनाई जाय तो पत्थर, चूने में धन का व्यय करने के सिवा और क्या लाभ होगा?"

"अपने मृत मित्र की चिता के पास खड़ा रहकर जो मनुष्य उसके समागम-सुख का विचार करेगा और यह देखेगा कि अब मैं प्रेमाकुल होकर चाहे जितना रोऊँ पर अपने मित्र की स्तब्ध नाड़ी को सचेत नहीं कर सकता या उसकी काया को छोड़ जानेवाली आत्मा के सामने मैं दिए हुए दुःख का पश्चात्ताप करके क्षमा नहीं माँग सकता तो वह निश्चय कर लेगा कि अपने मित्र को इस प्रकार का मर्मभेदी दुःख देने का पातक अब मैं न करूँगा।"

मृत्यु से मित्रता का नाश नहीं होता। सिसिरो ने लिखा है—"अपने मित्र चाहे दूर भी हों तथापि वे निकट ही रहने

के समान हैं। वे विपद्ग्रस्त हों तो भी संपत्तिमान् हैं। शक्ति-हीन हों तो भी सामर्थ्यवान् हैं और मृत हों तो भी जीवित हैं।" यह कहना बहुतों को पहेली की तरह कठिन मालूम होगा परंतु जिन महात्मा ने यह बात कही है उन्हीं ने इसका स्पष्टीकरण भी कर दिया है। "सीपियो यद्यपि मृत हो गया है तथापि वह मेरे लिये जीवित है और सर्वदा वह जीवित ही रहेगा, क्योंकि उसके सद्गुण मुझे अत्यंत प्रिय हैं और उसकी श्रेष्ठता अभी तक नष्ट नहीं हुई। मेरे भाग्य से संयोगवश जो बड़प्पन मुझे प्राप्त हुआ है वह सीपियों की मैत्री की तौल में पसंगे के बराबर भी नहीं है।"

यदि हम अपने मित्रों का चुनाव उनकी संपत्ति की तरफ न देखकर उनकी योग्यता की तरफ देखकर करें और यदि हम मित्रलाभ के, जो संसार का एक बड़ा प्रसाद है, उपयुक्त पात्र हों तो हमें उनके समागम का सुख सर्वदा मिलेगा। वे दूर हों तो भी निकट के तुल्य होंगे और उनके इस लोक से चले जाने पर भी उनका सुखकर स्मरण हमें रहेगा।

—गणपत जानकीराम दूबे

(३) राजा भोज का सपना

वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्त्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते, सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू माँगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियाँ बाँटता और मेह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता। एक एक श्लोक के लिये ब्राह्मणों को लाख लाख रुपया उठा देता और सवा लक्ष ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने को बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान, दान और व्रत उपवास में सदा तत्पर रहता। उसने बड़े बड़े चांद्रायण किए थे और बड़े बड़े जंगल पहाड़ छान डाले थे।

एक दिन शरद् ऋतु में संध्या के समय सुंदर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुंड के तीर, जिसमें कुमुद और कमलों

के बीच जल-पक्षी कल्लोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिए के सहारे स्वस्थचित्त बैठा हुआ वह महलों की सुनहरी कलसियाँ लगी हुई संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय होता हुआ पूर्णिमा का चंद्रमा देख रहा था और निर्जन एकांत होने के कारण मन ही मन में सोचता था कि अहो ! मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाश किया जैसे सूर्य्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव जंतु मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं का भला करने में गँवाया और व्रत उपवास करते करते फूल से शरीर को काँटा बनाया। जितना मैंने दान किया उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी न आया होगा। जो मैं ही नहीं तो फिर और कौन हो सकता है ? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह अवश्य मुझे अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे कुछ दोष लगे ?

इसी अर्से में चोबदार ने पुकारा—"चौधरी इंद्रदत्त निगाह रूबरू !" श्रीमहाराज सलामत भोज ने आँख उठाई, दीवान ने साष्टांग दंडवत की, फिर सम्मुख जा हाथ जोड़ यों निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ, सड़क पर वे कुएँ जिनके वास्ते आपने हुक्म दिया था बनकर तैयार हो गए हैं और आम के बाग भी सब जगह लग गए। जो पानी पीता है आपको असीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता आपकी बढ़ती दौलत मनाता है।" राजा अति प्रसन्न हुआ और बोला कि "सुन मेरी अमलदारी भर में जहाँ जहाँ सड़कें हैं कोस कोस

पर कुएँ खोदवाके सदाव्रत बैठा दे और दुतरफा पेड़ भी जल्द लगवा दे।" इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया—"धर्मावतार! वह जो पाँच हजार ब्राह्मण हर साल जाड़े में रजाई पाते हैं सो डेवढ़ी पर हाजिर हैं।" राजा ने कहा—"अब पाँच के बदले पचास हजार को मिला करे और रजाई की जगह शाल दुशाले दिए जावें।" दानाध्यक्ष दुशालों के लाने वास्ते तोशेखाने में गया। इमारत के दारोगा ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि "महाराज! उस बड़े मंदिर की जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है आज नींव खुद गई, पत्थर गढ़े जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं।" महाराज ने तिउरियाँ बदलकर उस दारोगा को खूब घुड़का "अरे मूर्ख, वहाँ पत्थर और लोहे का क्या काम है? बिलकुल मंदिर संगमर्मर और संगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में आवे जिसमें भगवान् भी उसे देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे।"

यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि "धन्य महाराज! क्यों न हो? जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया, मानों धर्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले ही से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।" व्यासजी ने कथा आरंभ की,

भजन कीर्तन होने लगा। चाँद सिर पर चढ़ आया। घड़ियाली ने निवेदन किया कि "महाराज! आधी रात के निकट है।" राजा की आँखों में नींद आ रही थी; व्यास कथा कहते थे पर राजा को ऊँघ आती थी वह उठकर रनवास में गया।

जड़ाऊ पलँग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दाबने लगीं। राजा की आँख झप गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया, जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफाई में हाथीदाँत को भी मात कर दिया है, जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहा जवाहिरों को पत्थरों में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुल्लालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाए हैं, कहीं पुखराजों की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने की चोबों पर शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौजों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं। मनों धूप जल रहा है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमंड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे कभी ऊपर, कभी दाहने कभी बाएँ निगाह करता और मन में सोचता कि अब इतने पर भी मुझे क्या कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है, दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा।

इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मंदिर में खड़ा खड़ा क्या देखता है कि एक ज्योति सी उसके सामने आसमान से उतरी चली आती है। उसका प्रकाश तो हजारों सूर्य्य से भी अधिक है परंतु जैसे सूर्य्य को बादल घेर लेता है उस प्रकार उसने मुँह पर घूँघट सा डाल लिया है, नहीं तो राजा की आँखें कब उस पर ठहर सकती थीं; इस घूँघट पर भी वे मारे चकाचौंध के झपकी चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही काँप उठा और लड़खड़ाती सी जबान से बोला कि हे महा-राज! आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आए हैं? उस पुरुष ने बादल की गरज के समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूँ, अंधों की आँखें खोलता हूँ, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ, मैं मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूँ और सपने के भूले हुओं को नींद से जगाता हूँ। हे भोज! अगर कुछ हिम्मत रखता है तो आ हमारे साथ आ और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन के मंदिरों का भेद ले, इस समय हम तेरे ही मन को जाँच रहे हैं। राजा के जी पर एक अजब दहशत सी छा गई। नीची निगाह करके वह गर्दन खुजाने लगा। सत्य बोला, भोज! तू डरता है, तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है? भोज ने कहा—नहीं, इस बात से तो नहीं डरता क्योंकि जिसने अपने तईं नहीं जाना उसने फिर क्या जाना? सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह

से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ। सत्य बोला, "ठीक, पर भोज, यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते हैं? पर सूर्य्य की किरण पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं? क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं? पर जब खुर्दबीन शीशे को लगाकर देखो तो एक एक बूँद में हजारों ही जीव सूझने लग जाते हैं। जो तू उस बात के जानने से जिसे अवश्य जानना चाहिए डरता नहीं तो आ मेरे साथ आ, मैं तेरी आँखें खोलूँगा।"

निदान सत्य यह कह राजा को उस बड़े मंदिर के ऊँचे दर्वाजे पर चढ़ा ले गया जहाँ से सारा बाग दिखलाई देता था और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पापकर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता। क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्य-कर्म कौन कौन से किए हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर संतुष्ट होगा। राजा यह सुनके अत्यंत प्रसन्न हुआ। यह तो मानों उसके मन की बात थी। पुण्य कर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि

पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी से भारी पाप भी उसके पासंग में न ठहरेगा। राजा को वहाँ उस समय सपने में तीन पेड़ बड़े ऊँचे अपनी आँख के सामने दिखाई दिए। फलों से वे इतने लदे हुए थे कि मारे बोझ के उनकी टहनियाँ धरती तक झुक गई थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य, यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड़ हैं, देख फलों के बोझ से ये धरती पर नए हैं। ये तीनों मेरे ही लगाए हैं। पहले में तो वे सब लाल लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वे पीले पीले मेरे न्याय से और तीसरे में ये सब सफेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखाते हैं। मानों उस समय यह ध्वनि चारों ओर से राजा के कानों में चली आती थी कि धन्य हो! आज तुम सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं, तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो, इस लोक में भी तुमने बड़ा पद पाया है और उस लोक में भी इससे अधिक मिलेगा, तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आँखों में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य्य के मंडल में लोग कलंक बतलाते हैं पर तुम पर एक छींटा भी नहीं लगाते।

सत्य बोला कि "भोज, जब मैं इन पेड़ों के पास था जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया के बतलाता है तब तो इनमें फल फूल कुछ भी नहीं थे, ये निरे ठूँठ से खड़े थे। ये लाल, पीले और सफेद फल कहाँ से आ गए? ये सचमुच

उन पेड़ों में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और वश करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिए हैं ? चल, उन पेड़ों के पास चलकर देखें तो सही । मेरी समझ में तो ये लाल लाल फल जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है यश और कीर्त्ति फैलाने की चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इन पेड़ में लगाए हैं ।" निदान ज्योंही सत्य ने उस पेड़ के छूने को हाथ बढ़ाया राजा सपने में क्या देखता है कि वे सारे फल जैसे आस्मान से ओले गिरते हैं एक आन की आन में धरती पर गिर पड़े । धरती सारी लाल हो गई; पेड़ों पर सिवाय पत्तों के और कुछ न रहा । सत्य ने कहा कि "राजा जैसे कोई किसी चीज को मोम से चिपकाता है उसी तरह तूने अपने भुलाने को प्रशंसा की इच्छा से ये फल इस पेड़ पर लगा लिए थे । सत्य के तेज से यह मोम गल गया, पेड़ ठूँठ का ठूँठ रह गया । जो तूने दिया और किया सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिये, केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं दिया । यदि कुछ दिया हो या किया हो तो तू ही क्यों नहीं बतलाता । मूर्ख, इसी के भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था ।"

भोज ने एक ठंढी साँस ली । उसने तो औरों को भूला समझा था पर वह सबसे अधिक भूला हुआ निकला । सत्य ने उस पेड़ की तरफ हाथ बढ़ाया जो सोने की तरह चमकते हुए पीले पीले फलों से लदा हुआ था । सत्य बोला, "राजा

ये फल तूने अपने भुलाने को, स्वर्ग की स्वार्थसिद्धि करने की इच्छा से लगा लिए थे। कहनेवाले ने ठीक कहा है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उसके मन की भावना का विचार करता है और ईश्वर मनुष्य के मन की भावना के अनुसार उसके कर्मों का हिसाब लेता है। तू अच्छी तरह जानता है कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़ है। जो न्याय न करे तो फिर यह राज्य तेरे हाथ में क्योंकर रह सके। जिस राज्य में न्याय नहीं वह तो बे-नीव का घर है, बुढ़िया के दाँतों की तरह हिलता है, अब गिरा तब गिरा। मूर्ख, तू ही क्यों नहीं बतलाता कि यह तेरा न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सांसारिक सुख पाने की इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से?'

भोज की पेशानी पर पसीना हो आया, उसने आँखें नीची कर लीं, उससे जवाब कुछ न बन पड़ा। तीसरे पेड़ की बारी आई। सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी वही हालत हुई। राजा अत्यंत लज्जित हुआ। सत्य ने कहा कि "मूर्ख! ये तेरे तप के फल कदापि नहीं, इनको तो इस पेड़ पर तेरे अहंकार ने लगा रखा था। वह कौन सा व्रत व तीर्थयात्रा है जो तूने निरहंकार केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से की हो? तूने यह तप केवल इसी वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तई औरों से अच्छा और बढ़कर विचारे। ऐसे ही तप पर गोबर-गनेस, तू स्वर्ग मिलने की उम्मेद रखता है? पर यह तो बतला कि मंदिर के उन मुँडेरों पर वे जानवर से क्या दिख-

लाई देते हैं; कैसे सुंदर और प्यारे मालूम होते हैं। पर तो उनके पन्ने के हैं और गर्दन फीरोजे की, दुम में सारे किस्म के जवाहिरात जड़ दिए हैं।" राजा के जी में घमंड की चिड़िया ने फिर फुरफुरी ली। मानों बुझते हुए दीये की तरह वह जगमगा उठा। जल्दी से उसने जवाब दिया कि "हे सत्य, यह जो कुछ तू मंदिर की मुँडेरों पर देखता है मेरे संध्यावंदन का प्रभाव है। मैंने जो रातों जाग जागकर और माथा रगड़ते रगड़ते इस मंदिर की देहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति वंदना और विनती प्रार्थना की है वे ही अब चिड़ियों की तरह पंख फैलाकर आकाश को जाती हैं, मानों ईश्वर के सामने पहुँचकर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं।" सत्य ने कहा कि राजा, दीनबंधु करुणासागर श्रीजगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की बिनती सदा सुनता रहता है और जो मनुष्य शुद्ध-हृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने दुष्कर्मों का पश्चात्ताप अथवा उनके क्षमा होने का टुक भी निवेदन करता है वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य्य चाँद को बेधकर पार हो जाता है, फिर क्या कारण कि ये सब अब तक मंदिर के मुँडेरे पर बैठे रहे? आ, चल, देखें तो सही हम लोगों के पास जाने पर आकाश को उड़ जाते हैं या उसी जगह पर परकटे कबूतरों की तरह फड़फड़ाया करते हैं।

भोज डरा लेकिन उसने सत्य का साथ न छोड़ा। जब वह मुँडेरे पर पहुँचा तो क्या देखता है, कि वे सारे जानवर जो दूर

से ऐसे सुंदर दिखलाई देते थे मरे हुए पड़े हैं; पंख नुचे खुचे और बहुतेरे बिलकुल सड़े हुए, यहाँ तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा। दो एक ने, जिनमें कुछ दम बाकी था, जो उड़ने का इरादा भी किया तो उनका पंख पारे की तरह भारी हो गया और उसने उन्हें उसी ठौर दबा रखा। वे तड़फा जरूर किए, पर उड़ जरा भी न सके। सत्य बोला "भोज, बस यही तेरे पुण्यकर्म हैं, इसी स्तुति वंदना और विनती प्रार्थना के भरोसे पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है। सूरत तो इनकी बहुत अच्छी है पर जान बिलकुल नहीं। तूने जो कुछ किया केवल लोगों के दिखलाने को, जी से कुछ भी नहीं।" जो तू एक बार भी जी से पुकारा होता कि "दीनबंधु दीनानाथ दीनहितकारी! मुझ पापी महा अपराधी डूबते हुए को बचा और कृपादृष्टि कर" तो वह तेरी पुकार तीर की तरह तारों से पार पहुँची होती। राजा ने सिर नीचा कर लिया, उससे उत्तर कुछ न बन आया। सत्य ने कहा कि भोज! अब आ, फिर इस मंदिर के अंदर चलें और वहाँ तेरे मन के मंदिर को जाँचें। यद्यपि मनुष्य के मन के मंदिर में ऐसे ऐसे अँधेरे तहखाने और तलघरे पड़े हुए हैं कि उनको सिवाय सर्वदर्शी घट घट अंतर्यामी सकल जगत्स्वामी के और कोई भी नहीं देख अथवा जाँच सकता, तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा।

राजा सत्य के पीछे खिंचा खिंचा फिर मंदिर के अंदर घुसा, पर अब तो उसका हाल ही कुछ से कुछ हो गया।

सचमुच सपने का खेल सा दिखलाई दिया। चाँदी की सारी चमक जाती रही, सोने की बिलकुल दमक उड़ गई, सोने में लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ जहाँ जहाँ से मुलम्मा उड़ गया था भीतर का ईंट पत्थर कैसा बुरा दिखलाई देता था। जवाहिरों की जगह केवल काले काले दाग रह गए थे, और संगमर्मर की चट्टानों में हाथ हाथ भर गहरे गढ़े पड़ गए थे। राजा यह देखकर भौचक्का सा रह गया, औसान जाते रहे, हक्काबक्का बन गया। उसने धीमी अवाज से पूछा कि ये टिड्डीदल की तरह इतने दाग इस मंदिर में कहाँ से आए? जिधर मैं निगाह उठाता हूँ सिवाय काले काले दागों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता! ऐसा तो छीपी छींट भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा ही देख पड़ेगा। सत्य बोला कि "राजा ये दाग जो तुझे इस मंदिर में दिखलाई देते हैं दुर्वचन हैं जो दिन रात तेरे मुख से निकला किए हैं। याद तो कर, तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं। क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त प्रसन्न करने को, क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबरवाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखलाने को तैने कितना झूठ बोला है। अपने ऐब छिपाने और दूसरे की आँखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ पाने के लिये तैने कैसी कैसी शेखियाँ हाँकी हैं

और अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहाँ तक बातें बनाई हैं सो क्या अब कुछ भी याद न रहा, बिलकुल एकबारगी भूल गया ? पर वहाँ तो वे तेरे मुँह से निकलते ही बही में दर्ज हुईं। तू इन दागों के गिनने में असमर्थ है पर उस घट-घट-निवासी अनंत अविनाशी को एक एक बात जो तेरे मुँह से निकली है याद है और याद रहेगी। उनके निकट भूत और भविष्य वर्तमान सा है।"

भाज ने सिर न उठाया पर उसी दबी जबान से इतना मुँह से और निकाला कि दाग तो दाग पर ये हाथ हाथ भर के गढ़े क्योंकर पड़ गए, सोने चाँदी में मोर्चा लगकर ये ईंट पत्थर कहाँ से दिखलाई देने लगे ? सत्य ने कहा कि "राजा क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात नहीं कही अथवा बोली ठोली नहीं मारी ? अरे नादान, यह बोली ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है, तू तो इन गढ़ों ही को देखकर रोता है पर तेरे ताने तो बहुतों की छातियों से पार हो गए। जब अहंकार का मोर्चा लगा तो फिर यह देखलावे का मुलम्मा कब तक ठहर सकता है ! स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट पत्थर प्रकट हो गया।" राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तंग कर रखा था। मारे बू के सिर फटा जाता था। भुनगों और पतंगों से सारा मकान भर गया था, बीच बीच में पंख-वाले साँप और बिच्छू भी दिखलाई देते थे। राजा घबराकर चिल्ला उठा कि यह मैं किस आफत में पड़ा, इन कमबख्तों को

यहाँ किसने आने दिया ? सत्य बोला "राजा सिवाय तेरे इनको यहाँ और कौन आने देगा ? तू ही तो इन सबको लाया। ये सब तेरे मन की बुरी वासनाएँ हैं। तूने समझा था कि जैसे समुद्र में लहरें उठा और मिटा करती हैं उसी तरह मनुष्य के मन में भी संकल्प की मौजें उठकर मिट जाती हैं। पर रे मूढ़! याद रख, कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच विचार कोई नहीं आता जो जगकर्त्ता प्राणदाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। ये चिमगादड़ और भुनगे और साँप बिच्छू और कीड़े मकोड़े जो तुझे दिखलाई देते हैं वे सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अभिमान, मद, ईर्षा के संकल्प विकल्प हैं जो दिन रात तेरे अंतःकरण में उठा किए और इन्हीं चिमगादड़ और भुनगों और साँप बिच्छू और कीड़े मकोड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उड़ते रहे। क्या कभी तेरे जी में किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्क माल पर लोभ नहीं आया या अपनी बड़ाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुंदर स्त्री देखकर उस पर दिल न चला ?"

राजा ने एक बड़ी लंबी ठंडी साँस ली और अत्यंत निराश होके यह बात कही कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा हृदय शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं। इस संसार में निष्पाप रहना बड़ा ही कठिन है। जो पुण्य करना चाहते हैं उनमें भी पाप निकल आता है। इस संसार में पाप से रहित कोई भी नहीं, ईश्वर के सामने पवित्र

पुण्यात्मा कोई भी नहीं। सारा मंदिर वरन् सारी धरती आकाश गूँज उठा "कोई भी नहीं, कोई भी नहीं।" सत्य ने जो आँख उठाकर उस मंदिर की एक दीवार की ओर देखा तो उसी दम संगमर्मर से आईना बन गया। उसने राजा से कहा कि अब टुक इस आईने का भी तमाशा देख और जो कर्त्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं उनका भी हिसाब ले। राजा उस आईने में क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की बढ़ी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बहे जाते हैं उसी प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलती और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं। कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आईने में दिखलाई देते जिन्हें राजा खाने पहनने को दे सकता था पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे कट्टे मोटे मुसंड खाते पीतों को देता रहा, जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफारिश ले आते थे, या उसके कारदारों को घूँस देकर मिला लेते थे या सवारी के समय माँगते माँगते और शोर गुल मचाते मचाते उसे तंग कर डालते थे या दर्बार में आकर उसे लज्जा के भवर में गिरा देते थे या झूठा छापा तिलक लगाकर उसे मक्र के जाल में फँसा लेते थे या जन्मपत्र के भले बुरे ग्रह बतलाकर कुछ धमकी भी दिखला देते थे या सुंदर कवित्त और श्लोक पढ़कर उसके चित्त को लुभाते थे। कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिन पर राजा के कारदार ज़ुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी

तहकीकात और उपाय न किया। कभी उन बीमारों को देखता जिनका चंगा करा देना राजा के इख्तियार में था, कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति के मारे दिखलाई देते जिनका जी राजा के दो बात कहने से ठंढा और संतुष्ट हो सकता था। कभी अपने लड़के लड़कियों को देखता था जिन्हें वह पढ़ा लिखाकर अच्छी अच्छी बातें सिखाकर बड़े बड़े पापों से बचा सकता था। कभी उन गाँव और इलाकों को देखता जिनमें कुएँ तालाब और किसानों को मदद देने और उन्हें खेती बारी की नई नई तर्कीबें बतलाने से हजारों गरीबों का भला कर सकता था। कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तों को देखता जिन्हें दुरुस्त करने से वह लाखों मुसाफिरों को आराम पहुँचा सकता था।

राजा से अधिक देखा न जा सका, थोड़ी देर में घबड़ाकर हाथों से उसने अपनी आँखें ढाँप लीं। वह अपने घमंड में उन सब कामों को तो सदा याद रखता था और उनकी चर्चा किया करता जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किए हुए समझता था, पर उसने उन कर्त्तव्य कामों का कभी टुक सोच न किया जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था। सत्य बोला ' राजा अभी से क्यों घबरा गया? आ इधर आ, इस दूसरे आईने में तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूँ जो तूने अपनी उमर में किए हैं।" राजा ने हाथ जोड़ा और पुकारा कि बस महाराज, बस कीजिए, जो कुछ देखा उसी में मैं तो मिट्टी हो गया, कुछ भी बाकी न रहा, अब

आगे क्षमा कीजिए। पर यह बतलाइए कि आपने यहाँ आकर मेरे शर्बत में क्यों जहर घोला और पकी पकाई खीर में साँप का विष उगला और मेरे आनंद को इस मंदिर में आकर नाश में मिलाया जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् के अर्पण किया है ? चाहे जैसा यह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो पर मैंने तो उसी के निमित्त बनाया है। सत्य ने कहा "ठीक, पर यह तो बतला कि भगवान् इस मंदिर में बैठा है ? यदि तूने भगवान् को इस मंदिर में बिठाया होता तो फिर वह अशुद्ध क्यों रहता ? जरा आँख उठाकर उस मूर्त्ति को तो देख जिसे तू जन्म भर पूजता रहा है।"

राजा ने जो आँख उठाई तो क्या देखता है कि वहाँ उस बड़ी ऊँची बेदी पर उसी की मूर्ति पत्थर की गढ़ी हुई रखी है और अभिमान की पगड़ी बाँधे हुए है। सत्य ने कहा कि "मूर्ख तूने जो काम किए केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिये। इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिये तूने अपनी आप पूजा की। रे मूर्ख, सकल जगत्स्वामी घट घट अंतर्यामी क्या ऐसे मनरूपी मंदिरों में भी अपना सिंहासन बिछने देता है, जो अभिमान और प्रतिष्ठाप्राप्ति की इच्छा इत्यादि से भरा है ? यह तो उसकी बिजली पड़ने के योग्य है।" सत्य का इतना कहना था कि सारी पृथिवी एकबारगी काँप उठी, मानों उसी दम टुकड़ा टुकड़ा हुआ चाहती थी, आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि जैसे प्रलयकाल का मेघ

गरजा। मंदिर की दीवारें चारों ओर से अड़अड़ाकर गिर पड़ीं, मानों उस पापी राजा को दबा ही लेना चाहती थीं। उस अहंकार की मूर्ति पर एक ऐसी बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे मुँह आ पड़ी। 'त्राहि माम्, त्राहि माम्, मैं डूबा,' कहके भोज जो चिल्लाया तो आँख उसकी खुल गई और सपना सपना हो गया।

इस अर्से में रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी, चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, एक ओर से शीतल मंद सुगंध पवन चली आती थी, दूसरी ओर से बीन और मृदंग की ध्वनि। बंदीगन राजा का यश गाने लगे, हर्कारे हर तरफ काम को दौड़े, कमल खिले, कुमुद कुम्हलाए। राजा पलँग से उठा पर जी भारी, माथा थामे हुए, न हवा अच्छी लगती थी, न गाने बजाने की कुछ सुध बुध थी। उठते ही पहले उसने यह हुक्म दिया कि "इस नगर में जो अच्छे से अच्छे पंडित हों जल्द उनको मेरे पास लाओ। मैंने एक सपना देखा है कि जिसके आगे अब यह सारा खटराग सपना मालूम होता है। उस सपने के स्मरण ही से मेरे रोंगटे खड़े हुए जाते हैं। राजा के मुख से हुक्म निकलने की देर थी चोबदारों ने तीन पंडितों को जो उस समय वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे, बात की बात में राजा के सामने ला खड़ा किया। राजा का मुँह पीला पड़ गया था, माथे पर पसीना हो आया था। उसने पूछा कि "वह कौन सा उपाय

है जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे?" उनमें से एक बड़े बूढ़े पंडित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि "धर्मराज धर्मावतार ! यह भय तो आपके शत्रुओं को होना चाहिए, आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी में ऐसा संदेह क्यों उत्पन्न हुआ ? आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहनके बेखटके परमेश्वर के सामने जाइए, न तो वह कहीं से फटा कटा है और न किसी जगह से मैला कुचैला है।" राजा क्रोध करके बोला कि "बस अधिक अपनी वाणी को परिश्रम न दीजिए और इसी दम अपने घर की राह लीजिए। क्यों आप फिर उस पर्दे को डाला चाहते हैं जो सत्य ने मेरे सामने से हटाया है ? बुद्धि की आँखों को बंद किया चाहते हैं जिन्हें सत्य ने खोला है ? उस पवित्र परमात्मा के सामने अन्याय कभी नहीं ठहर सकता। मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है। यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा तो नाश हो जाऊँगा, मेरा कहीं पता भी न लगेगा।"

इतने में दूसरा पंडित बोल उठा कि "महाराज परब्रह्म परमात्मा जो आनंदस्वरूप है उसकी दया के सागर का कब किसी ने वारा पार पाया है, वह क्या हमारे इन छोटे छोटे कामों पर निगाह किया करता है, वह कृपादृष्टि से सारा बेड़ा पार लगा देता है।" राजा ने आँखें दिखला के कहा कि "महा-राज ! आप भी अपने घर को सिधारिए। आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया है कि वह किसी पापी को सजा

नहीं देता, सब धान बाईस पसेरी तोलता है, मानों हरभोगपुर का राज करता है। इसी संसार में क्यों नहीं देख लेते जो आम बोता है वह आम खाता है और जो बबूल लगाता है वह काँटे चुनता है। क्या उस लोक में जो जैसा करेगा सर्वदर्शी घट-घट अंतर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा? सारी सृष्टि पुकारे कहती है, और हमारा अंतःकरण भी इस बात की गवाही देता है कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा; जो जैसा करेगा वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा।"

तब तीसरा पंडित आगे बढ़ा और उसने यों जबान खोली कि "महाराज! परमेश्वर के यहाँ हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा कि जैसा हम लोग काम करते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं, आप बहुत यथार्थ फर्माते हैं। परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, पर वे इतने प्रायश्चित्त और होम और यज्ञ और जप, तप, तीर्थयात्रा किसलिये बनाए गए हैं? वे इसी लिये हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगों का अपराध क्षमा करे और वैकुंठ में अपने पास रहने की ठौर देवे।" राजा ने कहा "देवताजी, कल तक तो मैं आपकी सब बात मान सकता था लेकिन अब तो मुझे इन कामों में भी ऐसा कोई दिखलाई नहीं देता जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे। वह कौन सा जप, तप, तीर्थयात्रा, होम, यज्ञ और प्रायश्चित्त है जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आ जावे? आदमी का फुसला लेना तो सहज है पर उस घट

घट के अंतर्यामी को क्योंकर फुसलावे। जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है तो फिर उससे पुण्यकर्म कोई कहाँ से बन आवे। पहले आप उस स्वप्न को सुनिए जो मैंने रात को देखा है तब फिर पीछे वह उपाय बतलाइए जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पाता है।"

निदान राजा ने जो कुछ स्वप्न में रात को देखा था सब ज्यों का त्यों उस पंडित को कह सुनाया। पंडितजी तो सुनते ही अवाक् हो गए, उन्होंने सिर झुका लिया। राजा ने निराश होकर चाहा कि तुषानल में जल मरे पर एक पर-देसी आदमी सा जो उन पंडितों के साथ बिना बुलाए घुस आया था सोचता विचारता उठकर खड़ा हुआ और धीरे से यों निवेदन करने लगा "महाराज, हम लोगों का कर्ता ऐसा दीनबंधु कृपासिंधु है कि अपने मिलने की राह आप ही बतला देता है, आप निराश न हूजिए पर उस राह को ढूँढ़िए। आप इन पंडितों के कहने में न आइए पर उसी से उस राह पाने की सच्चे जी से मदद माँगिए।" हे पाठक जनो! क्या तुम भी भोज की तरह ढूँढ़ते हो और भगवान् से उसके मिलने की प्रार्थना करते हो? भगवान् तुम्हें शीघ्र ऐसी बुद्धि दे और अपनी राह पर चलावे, यही हमारे अन्तःकरण का आशीर्वाद है।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।

—राजा शिवप्रसाद

---

(४) क्रोध

क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के संबंध का परिज्ञान आवश्यक है। जैसे तीन चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या संबंध है यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण के साक्षात्कार के निश्चय के बिना क्रोध का उदय नहीं हो सकता। दुःख के सज्ञान हेतु पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करने की मानसिक क्रिया होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से अभ्यस्त हो ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है भूखा होने पर वह उसकी आहट पा रोने में कुछ क्रोध के चिह्न दिखाने लगता है।

सामाजिक जीवन के लिये क्रोध की बड़ी आवश्यकता है। यदि क्रोध न हो तो जीव बहुत से दुःखों की चिर निवृत्ति के लिये यत्न ही न करे। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल 'आह ऊह' करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव

नहीं पड़ता। उस दुष्ट के हृदय में दया आदि उत्पन्न करने में बड़ी देर लगेगी। प्रकृति किसी को इतना समय ऐसे छोटे छोटे कामों के लिये नहीं दे सकती। भय के द्वारा भी प्राणी अपनी रक्षा करता है पर समाज में इस प्रकार की दुःख-निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। मेरे कहने का यह अभि-प्राय नहीं कि क्रोध के समय क्रोधकर्ता के हृदय में भावी दुःख से बचने वा बचाने की इच्छा रहती है बल्कि चेतन प्रकृति के भीतर क्रोध इसी लिये है।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के कारण के परि-ज्ञान वा साक्षात्कार से होता है। अतः एक तो जहाँ इस ज्ञान में त्रुटि हुई वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है अपने धारणकर्ता की ओर नहीं। जिससे दुःख पहुँचा है वा पहुँचेगा उसका नाश हो वा उसे दुःख पहुँचे यही क्रोध का लक्ष्य है, क्रोध करनेवाले का फिर क्या होगा इससे उसे कुछ सरोकार नहीं। इसी से एक तो मनोवेग ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, दूसरे विचारशक्ति भी उन पर अंकुश रखती है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि हृदय में दुःख के कारण की अवरोध-शक्ति के रूप और परिमाण के निश्चय, दया, भय आदि और विकारों के संचार तथा उचित अनुचित के विचार के लिये जगह ही न रही तो बहुत हानि पहुँच जाती है। जैसे कोई सुने कि उसका शत्रु बीस आदमी लेकर उसे

मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार वा भय किए उसे मारने के लिये अकेला दौड़े तो उसके मारे जाने में बहुत कम संदेह है। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरांत आवश्यक मात्रा में और उपयुक्त स्थिति में भी क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिये उसका विकास होता है।

कभी कभी लोग अपने कुटुंबियों वा स्नेहियों से झगड़कर उन्हें पीछे से दुःख पहुँचाने के लिये अपना सिर तक पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता क्योंकि बिलकुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में सिर पटकते देखे तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवा है अर्थात् जिसे उसके सिर फूटने से यदि उस समय नहीं तो आगे चलकर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी कभी मनुष्य यह विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है उसमें दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़ पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में कुश उसके पैर में चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़ उखाड़कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा।

मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते फूँकते थक गए। जब आग नहीं जली तब उस पर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध असंस्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर चूर किए आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकार का क्रोध अपने दूसरे भाइयों के स्थान को दबाए हुए है। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोवेग अधिक प्रबल पड़ गया तो वह अंत:करण में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को फिर बचपन से मिलती जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

जिससे एक बार दु:ख पहुँचा, पर उसके दोहराए जाने की संभावना कुछ भी नहीं है उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार कहलाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जाते हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते उतरते उसको एक तमाचा लगा दे तो यह उसका प्रतिकार वा बदला कहा जायगा क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने की संभावना का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दु:ख पहुँचने की कुछ भी संभावना होगी वहाँ शुद्ध प्रतिकार नहीं होगा। हमारा पड़ोसी कई दिनों नित्य आकर

हमें दो चार टेढ़ी सीधी सुना जाता है। यदि हम उसको एक दिन पकड़कर पीट दें तो हमारा यह कर्म्म शुद्ध प्रतिकार नहीं कहलाएगा क्योंकि नित्य गाली सुनने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी हमारी दृष्टि रही। इन दोनों अवस्थाओं को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है। पर एक में वह परिणाम आदि के विचार को बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले प्रकार का क्रोध निष्फल समझा जाता है। पर थोड़े धैर्य्य के साथ सोचने से जान पड़ेगा कि इस प्रकार के क्रोध से स्वार्थसाधन तो नहीं होता पर परोक्ष रूप में कुछ लोकहित-साधन अवश्य हो जाता है। दुःख पहुँचानेवाले से हमें फिर दुःख पहुँचने का डर न सही पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दंड दे देने से पहले तो उसकी शिक्षा वा भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगों का भी बचाव हो जाता है। क्रोधकर्त्ता की दृष्टि तो इन परिणामों की ओर नहीं रहती है पर सृष्टि-विधान में इस प्रकार के क्रोध की नियुक्ति है इन्हीं परिणामों के लिये।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी सहायता करता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया

उमड़ रही है। पर दया की पहुँच तो आर्त ही तक है। यदि वह स्त्री भूखी होती तो हम उसे कुछ रुपया पैसा देकर अपने दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस दुःख का हेतु मूर्त्तिमान् तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक व्यर्थ करने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिये उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती है। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते हैं "उसने दया करके बचा लिया;" यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया"। ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपने अनुकूल परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती। एक अघोरी हमारे सामने मक्खियाँ मार मारकर खा रहा है और हमें घिन लग रही है। हम उससे नम्रतापूर्वक हटने के लिये कह रहे हैं और वह नहीं सुन रहा है। चट हमें क्रोध आ जाता है और हम उसे बलात् हटाने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थपरायण और धर्मपरायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बतानेवाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलनेवाला धोखे में भी

क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकालना रहता है, जिसे बातों में फँसाकर ठगना रहता है उसकी कठोर से कठोर और अनुचित से अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग जरा भी क्रोध नहीं करते। पर उनका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है न साधन।

बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर हमने जो क्रोध किया वह यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह बैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बड़ी तो कम हो जाती है पर वह और धैर्य्य, विचार और युक्ति के साथ लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नहीं देता पर बैर इसके लिये बहुत समय देता है। वास्तव में क्रोध और बैर में केवल कालभेद है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर बैर है। किसी ने हमें गाली दी। यदि हमने उसी समय उसे मार दिया तो हमने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि उससे बिना फिर गाली सुने हमने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो यह हमारा बैर निकालना

हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि बैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से बैर नहीं मानते। वे क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहिचान कराकर उनसे बहुत काल तक बचाए रखने के लिये दिया गया है।

—रामचंद्र शुक्ल

---

(५) रामलीला

आर्य्य वंश के धर्म्म कर्म और भक्ति भाव का वह प्रबल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था,— अब कहाँ है ? इस गूढ़ एवं मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महापेट में समा गया ।' निःसंदेह हम भी उक्त प्रश्न का एक यही उत्तर देते हैं कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महापेट में समा गया' ।

जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अव-शिष्ट रह गया है। कालचक्र के बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ कुछ चिह्न वा नाम बना हुआ है, यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है।

जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतल-स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी किंतु सुशीतल वारिधारा बह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो

रहा है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है! पाठक! जरा विचारकर देखिए ऐसी अवस्था में कहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख-शांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। 'राम नाम' ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और 'राम नाम' ही हमारे अंधे घर का दीपक है।

यह सत्य है कि जो प्रवाह यहाँ तक क्षीण हो गया है कि पर्वतों को उथल देने की जगह आप प्रति दिन पाषाणों से दब रहा है और लोग इस बात को भूलते चले जा रहे हैं कि कभी यहाँ भी एक प्रबल नद प्रवाहित हो रहा था, तो उसकी आशा परित्याग कर देनी चाहिए। जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है और प्रतिकूल वायु चल रही है वह कब तक सुरक्षित रहेगा? (परमात्मा न करे) वायु के एक ही झोंके में उसका निर्वाण हो सकता है।

किंतु हमारा वक्तव्य यह है कि वह प्रवाह भगवती भागीरथी की तरह बढ़ने लगे, तो क्या सामर्थ्य है कि कोई उसे रोक सके? क्योंकि वह प्रवाह कृत्रिम प्रवाह नहीं है, भगवती वसुंधरा के हृदय का प्रवाह है, जिसे हम स्वाभाविक प्रवाह भी कह सकते हैं।

जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते हैं, निःसंदेह उसकी शोचनीय दशा है और उससे अंधकार-निवृत्ति की आशा करना दुराशा मात्र है, परंतु यदि हमारी उसमें ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह प्रदीप वही प्रदीप है जो पहले समय में हमारे स्नेह, ममता और भक्ति-भाव का प्रदीप था। उसमें ब्रह्मांड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति है। वह वही ज्योति है जिसका प्रकाश सूर्य में विद्यमान है एवं जिसका दूसरा नाम अग्निदेव है और उपनिषद् जिसके लिये पुकार रहे हैं—

"तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति"।

वह प्रदीप भगवान् रामचंद्र के पवित्र नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि राम नाम की क्षुद्र प्रदीप के साथ तुलना करना अनुचित है, परंतु यह नाम का दोष नहीं है, हमारे क्षुद्र भाग्य की क्षुद्रता का दोष है कि उनका भक्ति-भाव अब हममें ऐसा ही रह गया है।

कभी हम लोग भी सुख से दिन बिता रहे थे, कभी हम भी भूमंडल पर विद्वान् और वीर शब्द से पुकारे जाते थे, कभी हमारी कीर्ति भी दिग्दिगंतव्यापिनी थी, कभी हमारे जयजयकार से भी आकाश गूँजता था और कभी बड़े बड़े सम्राट् हमारे कृपाकटाक्ष की भी प्रत्याशा करते थे—इस बात का स्मरण करना भी अब हमारे लिये अशुभचिंतक हो रहा है। पर कोई माने या न माने, यहाँ पर खुले शब्दों में यह

कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि अवश्य हम एक दिन इस सुख के अधिकारी थे। हम लोगों में भी एक दिन स्वदेशभक्त उत्पन्न होते थे, हममें सौभ्रात्र और सौहार्द का अभाव न था, गुरु-भक्ति और पितृ-भक्ति हमारा नित्य कर्म था, शिष्ट-पालन और दुष्ट-दमन ही हमारा कर्त्तव्य था। अधिक क्या कहें,—कभी हम भी ऐसे थे कि जगत् का लोभ हमें अपने कर्त्तव्य से नहीं हटा सकता था। पर अब वह बात नहीं है और न उसमें कोई प्रमाण ही है !

हमारे दूरदर्शी महर्षि भारत के मंद भाग्य को पहले ही अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके थे कि एक दिन ऐसा आवेगा कि न कोई वेद पढ़ेगा न वेदांग, न कोई इतिहास का अनुसंधान करेगा और न कोई पुराण ही सुनेगा ! सब अपनी क्षमता को भूल जायँगे। देश आत्मज्ञान-शून्य हो जायगा। इसलिये उन्होंने अपने बुद्धि-कौशल से हमारे जीवन के साथ 'राम' नाम का दृढ़ संबंध किया था। यह उन्हीं महर्षियों की कृपा का फल है कि जो देश अपनी शक्ति को, तेज को, बल को, प्रताप को, बुद्धि को और धर्म्म को अधिक क्या—जो अपने स्वरूप तक को भूल रहा है, वह इस शोचनीय दशा में भी राम नाम को नहीं भूला है ! और जब तक 'राम' स्मरण है, तब तक हम भूलने पर भी कुछ भूले नहीं हैं।

महाराज दशरथ का पुत्रस्नेह, श्रीरामचंद्रजी की पितृभक्ति, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भ्रातृभक्ति, भरतजी का स्वार्थत्याग,

वशिष्ठजी का प्रताप, विश्वामित्र का आदर, ऋष्यशृंग का तप, जानकीजी का पातिव्रत, हनुमान्‌जी की सेवा, विभीषण की शरणागति और रघुनाथजी का कठोर कर्त्तव्य किसको स्मरण नहीं है? जो अपने "रामचंद्र" को जानता है वह अयोध्या, मिथिला को कब भूला हुआ है। वह राक्षसों के अत्याचार, ऋषियों के तपोबल और क्षत्रियों के धनुर्बाण के फल को अच्छी तरह जानता है। उसको जब राम नाम का स्मरण होता है और जब वह 'रामलीला' देखता है तभी यह ध्यान उसके जी में आता है कि 'रावण आदि की तरह चलना न चाहिए, रामादिक के समान प्रवृत्त होना चाहिए'।

बस इसी शिक्षा को लक्ष्य कर हमारे समाज में 'रामनाम' का आदर बढ़ा। ऐसा पावन और शिक्षाप्रद चरित्र न किसी दूसरे अवतार का और न किसी मनुष्य का ही है! भगवान् रामचंद्र देव को हम मर्त्यलोक का राजा नहीं समझते, अखिल ब्रह्मांड का नायक समझते हैं। यों तो आदरणीय रघुवंश में सभी पुण्यश्लोक महाराज हुए, पर हमारे महाप्रभु 'राम' के समान सर्वत्र रमणशील अन्य कौन हो सकता है? मनुष्य ही कैसा पुरुषोत्तम क्यों न हो वह अंत को मनुष्य है। इसलिये आर्य्यवंश में राम ही का जयजयकार हुआ और है और जब तक एक भी हिंदू पृथ्वीतल पर रहेगा, होता रहेगा। हमारे आलाप में, व्यवहार में, जीवन में, मरण में, सर्वत्र 'राम नाम' का संबंध है। इस संबंध को दृढ़ रखने के लिये ही प्रतिवर्ष

रामलीला होती है। मान लीजिए कि वह सभ्यताभिमानी नवशिक्षितों के नजदीक खिलवाड़ है, वाहियात और पोप-लीला है, पर क्या भावुक जन भी उसे ऐसा ही समझते हैं? कदापि नहीं। भगवान् की भक्ति न सही—जिसके हृदय में कुछ भी जातीय गौरव होगा, कुछ भी स्वदेश की ममता होगी वह क्या इस बात को देखकर प्रफुल्लित न होगा कि पर-पद-दलित आर्य समाज में इस गिरी हुई दशा के दिनों में भी कौशल्यानंदन आनंदवर्द्धन भगवान् रामचंद्रजी का विजयोत्सव मनाया जा रहा है?

आठ सौ वर्ष तक हिंदुओं के सिर पर कृपाण चलती रही परंतु 'रामचंद्रजी की जय' तब भी बंद न हुई। सुनते हैं कि औरंगजेब ने असहिष्णुता के कारण एक बार कहा था कि 'हिंदुओ! अब तुम्हारे राजा रामचंद्र नहीं हैं, हम हैं। इसलिये रामचंद्र की जय बोलना राजद्रोह करना है।' औरंगजेब का कहना किसी ने न सुना। उसने राजभक्त हिंदुओं का रक्तपात किया सही पर 'रामचंद्र की जय' को न बंद कर सका। कहाँ है वह अभिमानी? लोग अब रामचंद्रजी के विश्व-ब्रह्मांड को देखें और उसकी मृण्मय समाधि (कबर) को देखें और फिर कहें कि राजा कौन है? भला कहाँ राजाधिराज रामचंद्र और कहाँ एक अहंकारी क्षणजन्मा मनुष्य?

एक वे विद्वान् हैं जो राम और रामायण की प्रशंसा करते हैं, रामचरित्र को अनुकरण योग्य समझते हैं एवं रामचंद्रजी

को भुक्ति-मुक्तिदाता मान रहे हैं, और एक वे लोग हैं जिनकी युक्तियों का बल केवल एक इसी बात में लग रहा है कि "रामायण में जो चरित्र वर्णित हैं वे सचमुच किसी व्यक्ति के नहीं हैं किंतु केवल किसी घटना और अवस्थाविशेष का रूपक बाँधके लिख दिए गए हैं।" निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निरर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करनेवाले वेबर साहब यदि यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मन में वध कर रहे हैं, वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है। यहाँ हम अपनी ओर से कुछ न कहकर हिंदी के प्रातःस्मरणीय सुलेखक पंडित प्रतापनारायण मिश्र के लेख को उद्धृत करते हैं—

अहा यह दोनों अक्षर भी हमारे साथ कैसा सार्वभौमिक संबंध रखते हैं, कि जिसका वर्णन करने की सामर्थ्य ही किसी को नहीं है। जो रमण करता हो अथवा जिसमें रमण किया जाय उसे राम कहते हैं, ये दोनों अर्थ राम नाम में पाए जाते हैं। हमारे भारतवर्ष में सदा सर्वदा रामजी रमण करते हैं और भारत राम में रमण करता है। इस बात का प्रमाण कहीं ढूँढ़ने नहीं जाना, आकाश में रामधनुष (इंद्रधनुष), धरती पर रामगढ़, रामपुर, रामनगर, रामगंज, रामरज, रामगंगा, रामगिरि (दक्षिण में); खाद्य पदार्थों में रामदाना, रामकीला (सीताफल), रामतरोई, रामचक्र; चिड़ियों में राम-

पाखी (बंगाल में मुरगी); छोटे जीवों में रामबरी (मेंढकी); व्यंजनों में रामरंगी (एक प्रकार के मुँगौड़े) तथा जहाँगीर ने मदिरा का नाम रामरंगी रखा था 'कि रामरंगिए मा नश्शाए दीगर दारद'; कपड़ों में रामनामी इत्यादि नाम सुनके कौन न मान लेगा कि जल स्थल, भूमि आकाश, पेड़ पत्ता, कपड़ा लत्ता, खान पान सबमें राम ही रम रहे हैं।

मनुष्यों में रामलाल, रामचरण, रामदयाल, रामदत्त, रामसेवक, रामनाथ, रामनारायन, रामदास, रामदीन, रामप्रसाद, रामगुलाम, रामबकस, रामनेवाज; स्त्रियों में भी रामदेई, रामकिशोरी, रामपियारी, रामकुमारी इत्यादि कहाँ तक कहिए जिधर देखो उधर राम ही राम दिखाई देते हैं, जिधर सुनिए राम ही नाम सुन पड़ता है। व्यवहारों में देखिए लड़का पैदा होने पर रामजन्म के गीत; जनेऊ, ब्याह, मुंडन, छेदन में राम ही का चरित्र; आपस के शिष्टाचार में 'राम राम'; दुःख में 'हाय राम !'; आश्चर्य अथवा दया में 'अरे राम'; महा प्रयोजनीय पदार्थों में भी इसी नाम का मेल, लक्ष्मी (रुपया पैसा) का नाम रमा; स्त्री का विशेषण रामा (रामयति) मदिरा का नाम रम (पीते ही नस नस में रम जानेवाली), यही नहीं मरने पर भी 'राम राम सत्य है' उसके पीछे भी गयाजी में रामशिला पर श्राद्ध ! इस सर्वव्यापकता का क्या कारण है ? यही कि हम अपने देश को ब्रह्ममय समझते थे। कोई बात, कोई काम ऐसा न करते थे जिसमें सर्वव्यापी सर्व स्थान में

रमण करनेवाले को भूल जायँ। अथच रामभक्त भी इतने थे कि श्रीमान् कौशल्यानंद-वर्धन जानकीजीवन, अखिलार्य-नरेंद्र-निषेवित-पाद-पद्म, महाराजाधिराज मायामानुष भगवान् रामचंद्रजी को साक्षात् परब्रह्म मानते थे ! इस बात का वर्णन तो फिर कभी करेंगे कि जो हमारे दशरथ-राजकुमार को परब्रह्म नहीं मानते वे निश्चय धोखा खाते हैं, अवश्य प्रेम राज्य में पैठने लायक नहीं हैं ! पर यहाँ पर इतना कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि हमारे आर्य्यवंश को राम इतने प्यारे हैं कि परम प्रेम का आधार राम ही को कह सकते हैं, यहाँ तक कि सहृदय समाज को 'राम-पाद-नख-ज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते' कहते हुए भी किंचित् संकोच नहीं होता ! इसका कारण यही है कि राम के रूप गुण स्वभाव में कोई बात ऐसी नहीं है कि जिसके द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रेम, भक्ति, सहृदयता अनुराग का महासागर न उमड़ उठता हो ! आज हमारे यहाँ की सुख-सामग्री सब नष्टप्राय हो रही है, सहस्रों वर्ष से हम दिन दिन दीन होते चले आते हैं पर तो भी राम से हमारा संबंध बना है। उनके पूर्व पुरुषों की राजधानी अयोध्या को देखके हमें रोना आता है। जो एक दिन भारत के नगरों का शिरोमणि था, हाय ! आज वह फैजाबाद के जिले में एक गाँव मात्र रह गया है। जहाँ एक से एक धीर धार्मिक महाराज राज्य करते थे, वहाँ आज बैरागी तथा थोड़े से दीन दशा-दलित हिंदू रह गए हैं।

जो लोग प्रतिमापूजन के द्वेषी हैं परमेश्वर न करे यदि कहीं उनकी चले तो फिर अयोध्या में रही क्या जायगा ? थोड़े से मंदिर ही तो हमारी प्यारी अयोध्या के सूखे हाड़ हैं। पर हाँ, रामचंद्र की विश्वव्यापिनी कीर्त्ति जिस समय हमारे कानों में पड़ती है उसी समय हमारा मरा हुआ मन जाग उठता है! हमारे इतिहास का हमारे दुर्दैव ने नाश कर दिया। यदि हम बड़ा भारी परिश्रम करके अपने पूर्वजनों का सुयश एकत्र किया चाहें तो बड़ी मुद्दत में थोड़ी सी कार्यसिद्धि होगी, पर भगवान् रामचंद्र का अविकल चरित्र आज भी हमारे पास है जो औरों के चरित्र से (जो बचे बचाए मिलते हैं वा कदाचित् दैवयोग से मिलें) सर्वोपरि श्रेष्ठ महारसपूर्ण परम सुहावन है, जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि कभी हम भी कुछ थे अथच यदि कुछ हुआ चाहें तो हो सकते हैं। हममें कुछ भी लक्षण हो तो हमारे राम हमें अपना लेंगे, वानरों तक को तो उन्होंने अपना मित्र बना लिया हम मनुष्यों को क्या भृत्य भी न बनावेंगे ? यदि हम अपने को सुधारा चाहें तो अकेली रामायण से सब प्रकार के सुधार का मार्ग पा सकते हैं। हमारे कविवर वाल्मीकि ने रामचरित्र में कोई उत्तम बात न छोड़ी एवं भाषा भी इतनी सरल रखी है कि थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाले भी समझ सकते हैं। यदि इतना श्रम भी न हो सके तो भगवान् तुलसीदास की मनोहारिणी कविता थोड़ी सी हिंदी जाननेवाले भी समझ सकते हैं, सुधा के समान काव्यानंद पा सकते हैं और अपना तथा

देश का सर्व प्रकार हितसाधन कर सकते हैं। केवल मन लगा के पढ़ना और प्रत्येक चौपाई का आशय समझना तथा उसके अनुकूल चलने का विचार रखना होगा। रामायण में किसी सदुपदेश का अभाव नहीं है। यदि विचारशक्ति से पूछिए कि रामायण की इतनी उत्तमता, उपकारकर्ता, सरसता का कारण क्या है? तो यही उत्तर पाइएगा कि उसके कवि ही आश्चर्य-शक्ति से पूर्ण हैं, फिर उनके काव्य का क्या कहना? पर यह बात भी अनुभवशाली पुरुषों की बताई हुई है फिर इन सिद्ध एवं विदग्धालाप कवीश्वरों का मन कभी साधारण विषयों पर नहीं दौड़ता। वे संसार भर का चुना हुआ परमोत्तम आशय देखते हैं तभी कविता करने की ओर दत्तचित्त होते हैं, इससे स्वयंसिद्ध है कि रामचरित्र वास्तव में ऐसा ही है कि उस पर बड़े बड़े कवीश्वरों ने श्रद्धा की है, और अपनी पूरी कविताशक्ति उस पर निछावर करके हमारे लिये ऐसे ऐसे अमूल्य रत्न छोड़ गए हैं कि हम इन गिरे दिनों में भी उनके कारण सच्चा अभिमान कर सकते हैं, इस हीन दशा में भी काव्यानंद के द्वारा परमानंद पा सकते हैं, और यदि चाहें तो संसार परमार्थ दोनों बना सकते हैं। खेद है, यदि हम भारत-संतान कहाकर इन अपने घर के अमूल्य रत्नों का आदर न करें! और जिसके द्वारा हमें यह महामणि प्राप्त हुए हैं उनका उपकार न मानें तथा ऐसे राम को, जिनके नाम पर हमारे पूर्वजों के प्रेम, प्रतिष्ठा, गौरव एवं मनोविनोद की नींव थी, अथच हमारे

लिये गिरी दशा में भी जो सच्चे अहंकार का कारण और जिससे आगे के लिये सब प्रकार के सुधार की आशा है, भूल जायँ ! अथवा किसी के बहकाने से राम नाम की प्रतिष्ठा करना छोड़ दें तो कैसी कृतघ्नता, मूर्खता एवं आत्महिंसकता है। पाठक ! यदि सब भाँति की भलाई और बड़ाई चाहो तो सदा सब ठौर सब दशा में राम का ध्यान रखो, राम को भजो, राम के चरित्र पढ़ो, सुनो, राम की लीला देखो दिखाओ, राम का अनुकरण करो। बस इसी में तुम्हारे लिये सब कुछ है। इस 'रकार' और 'मकार' का वर्णन तो कोई त्रिकाल में कही नहीं सकता। कोटि जन्म गावें तो भी पार न पावेंगे।

—माधवप्रसाद मिश्र

---

(६) बुँदेलखंड-पर्य्यटन

ओड़छा

कवि-कुल-कमल-दिवाकर महात्मा सूरदासजी ने सत्य कहा है—"सबै दिन जात न एक समान"। निस्संदेह यह वाक्य ऐसा सारगर्भित है कि इसे जितना ही सोचिए उतना ही यह गूढ़ प्रतीत होता है। इतिहासानुरागी लोगों के लिये तो यह वाक्य ऐसा उपयोगी है कि यदि वे इसे स्वर्णाक्षरों से लिखकर रात दिन अपने सामने लटकाए रहें तो भी अनुचित न होगा। दंभी पुरुषों के सम्मुख तो यह वाक्य घनघोर नाद से पढ़े जाने के योग्य ही है। जनवरी मास में बुँदेलखंड के बीच पर्य्यटन करता हुआ जब मैं झाँसी में पहुँचा और वहाँ के दुर्गम दुर्ग, कोट तथा महारानी लक्ष्मीबाई के राजभवन पर मेरी दृष्टि पड़ी, नगर में हिंदुओं के प्राचीन नगरों के ढब के हाट, बाट, मंदिर, गृह—जिनके द्वारों पर गज, अश्व, सेना, देवतादि के नाना रंगों के चित्र बने थे—मैंने देखे, तब अनायास, एरियन, फाहियान, हुएनसाँग आदि विदेशियों द्वारा लिखित और प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित भारतवर्षीय नगरों का चित्र आँखों के सम्मुख आ खड़ा हुआ और भारतवर्ष की उस सुख की दशा को वर्तमान दीन दशा से मिलाने पर चित्त विकल हो उठा। कंठावरोध होने को ही था कि पुनः महात्मा

सूरदास ने मेरा प्रबोध किया, और "सबै दिन जात न एक समान" इस बात को स्मरण कर जगत् को परिवर्तनशील जान चित्त ने धैर्य धारण किया। पुनः कई दिन तक मैं झाँसी नगर के प्राचीन चिह्नों का अनुसंधान करता रहा। इसी अवसर पर एक दिन मैं नगर के कोट के एक द्वार से निकला जो "ओड़छा द्वार" करके प्रसिद्ध है। इस द्वार को देखते ही मुझे अकस्मात् कवि-कुल-शिरोमणि सूरदासजी के सहयोगी साहित्य-गगन के शोभावर्द्धक नक्षत्र कवींद्र केशवदासजी के, तथा उनके प्रतिपालक और प्रचंड मुगल-सम्राट् कुटिल-नीत्यवलंबी अकबर के दर्प दमनकारी बुँदेलवंशावतंस वीरशिरोमणि महाराज वीर-सिंहदेवजी के अलौकिक चरित्रों की रंगभूमि का स्मरण हो आया। सब ओर से हटकर चित्त उसी ओर आकर्षित हो गया। यद्यपि मुझे कई एक आवश्यक कार्यों के कारण झाँसी से बाहर जाने का अवकाश न था, परंतु "मन हठ परो न सुनहि सिखावा" की दशा हुई, सब काम छोड़कर सबके बर्जने पर भी मैं गाड़ी मँगा दूसरे दिन प्रातःकाल इन प्रातःस्मरणीय महानुभावों की जन्मभूमि देखने को चल दिया। प्रकट हो कि ओड़छा झाँसी से आठ मील के अंतर पर है, मार्ग अत्यंत दुर्गम है, यद्यपि ओड़छाधिपति महाराज टीकमगढ़ ने, जो बुँदेल-खंडीय राज-मंडल के अग्रणी हैं, उसे ऐसा सुधरवा रखा है कि गाड़ी आदि के जाने में कुछ कष्ट नहीं होता। पार्वतीय मार्ग होने से बहुधा मार्ग ऊँचा नीचा है, जो मुझे संसार की

संपत्ति-विपत्ति का ठौर ठौर पर स्मरण दिलाता था। मार्ग के दोनों ओर सघन वनवृक्ष प्रहरीरूप में खड़े थे; उन पर विहग-वृंद का कलरव एक अपूर्व आनंद का संचार कर रहा था। पाठक-वृंद, कदाचित् आपको नगरवासी होने से वन-वर्णन ऊभट प्रतीत होता होगा और आप मुख्य स्थान का वृत्तांत सुनने के लिये अधिक उत्सुक होंगे, अतः हम मार्ग का कुछ भी वृत्तांत न कह मुख्य स्थान पर पहुँचते हैं। भारतवर्षीय इतिहास में जब से यवनगण के संकटमय चरणों के इस देश में पड़ने का वर्णन पाया जाता है तब से इस देश के दो प्रांतों के राजपूत वीरों को हम विशेषतः रणक्षेत्र में पाते हैं; एक तो राजपूताने के, दूसरे बुँदेलखंड के। आज का हमारा आलोच्य विषय बुँदेलखंड का एक नगर है। इसलिये राजपूताने का वर्णन न कर हम कुछ संक्षेप सा वर्णन बुँदेले राजपूतों के वंश का कर देना उचित समझते हैं।

विंध्याचल की नाना शाखाएँ इस देश के भीतर प्रविष्ट हैं अतः यह पार्वतीय देश उसी संबंध से विंध्यखंड, विंध्यशैलखंड अथवा विंध्येलखंड कहलाया और कालांतर में इस शब्द का अपभ्रंश हो देश बुँदेलखंड कहलाने लगा*।

---

* किसी किसी का यह पौराणिक मत है कि इस वंश के मूल पुरुष राजा वीर ने उग्र तप कर श्री विंध्यवासिनी को अपना सिर चढ़ाया था। भगवती उनसे ऐसी प्रसन्न हुईं कि उन्होंने उन्हें पुनः जीवित कर दिया। इतना ही नहीं, देवी की कृपा से सिर चढ़ाने में जो रक्त-बिंदु गिरे थे उनसे अनेक वीर पुरुष उत्पन्न हुए जो राजा के सहायक हुए। बूँदों से उत्पन्न होने से वे बुँदेले कहलाए।

यों तो कवि-कुल-गुरु महर्षि वाल्मीकिजी की रामायण में इसके चित्रकूट आदि स्थानों का वर्णन मिलता है; परंतु महाभारत में चेदि (चंदेरी) राजा के प्रसंग से इस देश का सविस्तर उल्लेख पाया जाता है। युगांतर का इतिहास होने से हमें यहाँ उसके वर्णन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और हम कवि चंद लिखित महोबा खंड के साक्ष्य पर चंदेलवंश का, जिसकी प्रथम राजधानी कालिंजर का दुर्गम दुर्ग अद्यापि उनके प्रतापशील होने की सुध दिलाता है और द्वितीय राजधानी खजूरपुर के अद्वितीय प्राचीन मठ, मंदिर, तड़ागादि अब तक उसके महत्त्व के सूचक छत्रपुर राज्यांतर्गत खड़े हैं और तृतीय राजधानी महोबा के प्रबल वीर आल्हा, ऊदल, मलखान आदि ने एक बार समस्त भारत में चंदेलवंश की विजय का डंका पीट दिल्लीश्वर पृथ्वीराज तक को थर्रा दिया था और वे अपने आश्चर्यदायक विशाल चिह्न अब तक महोबे के सन्निकट स्थानों में छोड़ गए हैं, सविस्तर वर्णन करने का अलग संकल्प कर चुके हैं, इसलिये यहाँ पर इतना ही लिखते हैं कि इस प्रचंड वंश के भाग्य का सूर्य भी, सन् ११९७ ई० के लगभग दिल्लीश्वर पृथ्वीराज के भाग्यभानु के साथ ही साथ, यवनदीप के प्रज्वलित होने के समय, अस्ताचल को प्रस्थान कर गया और तदुपरांत वीर बुँदेलवंशीय राजपूतों के शासन का इस देश में प्रादुर्भाव हुआ। जब चंदेल-चंद्र के वियोग में बुँदेल-भू-कुमुदिनी यवन-भाग्य-भास्कर को देख मुरझा रही थी, इस देश का

शृंखलाबद्ध राज्य नष्टप्राय हो गाँव गाँव के निराले ठाकुर होते जाते थे, उसी समय शाकंभरी-नरेश पृथ्वीराज को छल से मारनेहारे क्रूर शहाबुद्दीन गोरी के सेनानायक, पृथ्वीराज के अधिकृत देशों में फैल गए। जिस लोरक खत्री ने आर्यवंश की अहित-चिंता कर कई बार शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज के बंधन से छुड़ा और अंत में पृथ्वीराज की वैसी ही दशा में सहायता न कर, शहाबुद्दीन के हाथ उसका शिरश्छेद होने दिया, और इस प्रकार स्वजातिघात का पाप अपने सिर पर लिया उसी की संतान, यवन-शासन होते ही, महोबे की ओर आई और राज्य की सीमा पर जालौन प्रांत के कोंच परगने के मुहौनी ग्राम में अपने राज्य की राजधानी नियत कर रहने लगी।

धन्य भारत! तेरा जलवायु अद्भुत है, कोई कैसा ही क्रूर कुटिल प्रकृतिवाला तेरी गोद में क्यों न आवे, जहाँ पतित-पावनी भगवती जह्नुनंदिनी के जलबिंदुओं का उसने आचमन किया और जहाँ त्रैलोक्य-विभूति को तृण गिनने और ब्रह्मानंदामृत का पान करनेहारे हिमशृंगाश्रित ऋषियों के पादस्पर्शपूत-वायु उसके अंगों में लगी, तहाँ उसके मनोविकार, जन्म-जन्मांतर के पाप, क्षणमात्र में दूर हुए और उसमें भी साधुत्व आ ही गया। "खल सुधरहि सतसंगति पाई—पारस परस कुधातु सुहाई" का न्याय होता ही है।

लोरक की संतानों की भी यही दशा हुई। भारतवर्ष के जलवायु ने उन्हें यहाँ के पवित्र गुणों से अलंकृत कर दिया;

सदाचार, सद्व्यवहार, बंधुभाव, सुशीलता और सुजनता का संचार उनके हृदय में हो गया। मुहैानी गद्दा के एक वृद्ध महाराज निस्संतान थे; उनके जीवनकाल की संध्या होने ही को थी कि इतने में काशी के प्रसिद्ध गहिरवार-वंश-भूषण राजा कर्ण किसी कारण अपने पूर्वजों की राजगद्दी काशी छोड़ मुहैानी आए। निस्संतान मुहैानी राज्याधीश ने बड़े प्यार से उनका सत्कार किया और उनको अपना पाहुना बनाया। कुछ कालोपरांत दोनों में घनिष्ठ प्रेम हो गया और मुहैानी-राज महाराज कर्ण के गुणों से ऐसे मोहित हो गए कि अपना समस्त राज आगंतुक को सौंप आप सुरपुर सिधारे। यही राजा कर्ण बुँदेलवंश के मूल पुरुष हैं। राजा कर्ण और उनके पुत्र अर्जुन-पाल मुहैानी में ही राज करते रहे और अपने राज्य का विस्तार करते गए; परंतु अर्जुनपालजी के पुत्र राजा सहनपाल ने प्रबल खँगार जाति को परास्त कर और उनकी राजधानी गढ़ कूंडार को विजय कर मुहैानी से राजधानी हटा गढ़ कूंडार को अपनी राजधानी बनाया। राजा सहनपाल, राजा सहजइंद्र, राजा नौनिध, राजा पृथु, राजा सूर, राजा रामचंद्र, राजा मेदिनीमल, राजा अर्जुन, राजा राय अन्प, राजा मलखान, राजा प्रतापरुद्र तक यहाँ राज्य करते रहे, परंतु महाराजा रुद्र ने गढ़ कूंडार से राजधानी हटा एक सिद्धजी के आज्ञानुकूल वेत्रवती के तट पर ओड़छा बसाया। यही ओड़छा नगर आज हमारा आलोच्य विषय है।

पाठक महानुभावो ! आप पहले थोड़ा प्रकृति का वर्णन सुन लीजिए और देखिए कि यहाँ वह किस रूप में विस्तृत है। नगर के चतुर्दिक् पर्वतों के छोटे छोटे शृंग फैले हुए हैं। इन पर पलाश, खैर, बरगद, पीपल के वन के वन खड़े हैं। इन्हीं के बीच बीच में कहीं शिवमंदिर, कहीं गिरे पड़े कोट, कहीं तिद्वारी देखने में आती हैं। जंतु भी बहुतायत से इन वनों में रहते हैं। पर्वतों के बीच बीच में बड़े बड़े नाले हैं जो जड़ी बूटियों से भरे पड़े हैं। बबुई, दोनामरुआ और तुलसी के पौधे समभूमि पर सहस्रों देख पड़ते हैं। निर्मल वेत्रवती पर्वतों को विदारकर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से समभूमि पर, जो पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनंददायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर में प्रवेश करता है और जलकण उड़ उड़कर मुक्ताहार की छबि दिखाते तथा रविकिरण के संयोग से सैकड़ों इंद्रधनुष बनाते हैं। नदी की थाह में नाना रंग के पत्थरों के छोटे छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं, जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जलधारा की छटा दिखाती है। नदी के उभय तटों पर ऊँची पथरीली भूमि है। इसी पर पुराना नगर बसा था जिसके खँडहर अद्यापि कई मील तक विस्तृत हैं। नदी के दोनों तटों पर देवालयों की पाँतें, कूप, बावली, राजाओं की समाधियों पर के मंदिर दिखाई पड़ते हैं। जब वेत्रवती ओड़छा के मध्य में पहुँचती है तब वह दो धाराओं में विभक्त हो जाती है और

मील भर के लगभग लंबा एक अंडाकार टापू बीच में रह जाता है। पाठक महानुभावो ! आप इस टापू को भूल न जाइएगा। आगे चलकर आप इस टापू पर फिर आवेंगे। नगर के चतुर्दिक् पहाड़ी पत्थरों की टोलें चुन चुनकर कोट बनाया गया था और उसमें बड़े बड़े ऊँचे फाटक छोड़ दिए गए थे। ये टोलें चूने से जोड़ी नहीं गई हैं, केवल एक दूसरे पर चुन दी गई हैं। इनके दोनों ओर सघन वृक्ष जम आए हैं जिनकी जोड़ों में फँसकर ये ऐसी हो गई हैं कि हिलाए नहीं हिल सकतीं और इसी कारण स्वाभाविक पर्वत-श्रेणी सी प्रतीत होती हैं। इस ऊजड़ दशा में भी हमें यह स्थान रम्य जान पड़ता है, मानो मनुष्यों के अभाव में स्वयं प्रकृति देवी वहाँ पथिकों का सत्कार करती हैं। इसी रम्य भूमि पर महाराज रुद्रजी ने ओड़छा बसाया था।

किसी कवि ने सत्य कहा है "गुण ना हिरानो गुण ग्राहक हिरानो है।" राजा गुणग्राहक चाहिए, फिर गुणियों की त्रुटि कहाँ। राजा रुद्र की गुणग्राहकता से आन की आन में सैकड़ों गुणी, पंडित, विद्वान्, नीतिज्ञ, ओड़छे में आ बसे; सब का राजदरबार से सत्कार होने लगा। महाराज रुद्र के पश्चात् महाराज भारतचंद्र, और तब हरिचंद्र राजा हुए। इन सपूतों ने अपने पूर्वजों के राज्य को और भी बढ़ाया। कृतघ्न शेरशाह सूर ने पूर्व उपकारों को भूल महाराज हरिचंद्र पर आक्रमण किया। परंतु अंत में वह कायर इनकी कृपाण का लेख अपनी पीठ पर लिखा रक्तप्लावित और आहत हो

कायरों की भाँति रण से भाग गया। ओड़छे का चतुर्भुजजी का विशाल मंदिर इन्हीं महाराज का कीर्तिस्तंभ है। यह स्वर्णकलशमय मंदिर तीन शिखरों में है। एक तो पर्वत के समान ऊँची बैठक पर यह मंदिर बनवाया गया है, दूसरे मंदिर की उँचाई भी एक पहाड़ के समान ही है। इसका विस्तृत सभामंडप वृंदावन के गोविंददेवजी के मंदिर से किसी अंश में न्यून नहीं है। सभामंडप में वायु तथा उजाले के लिये द्वार कटे हैं और एक छोर पर चतुर्भुजजी की मूर्ति स्थापित है। सभामंडप के किसी द्वार पर खड़े हो जाइए, नगर के उस ओर का सारा भाग हथेली पर की वस्तु की भाँति दृष्टि-गोचर होगा। छत पर से तो समस्त नगर ही दिखाई पड़ता है। यह मंदिर एक छोटे किले के समान है और ऐसा दृढ़ है कि कदाचित् तोपों की मार भी वह सरलता से सहन कर सके। भूलभुलैयों की भाँति इसकी छत पर द्वार कटे हैं। अपने ढंग का यह मंदिर ऐसा अनूठा है कि कदाचित् बुंदेलखंड में कोई ऐसा दूसरा मंदिर न निकले। परंतु कुछ कारणों से यह मंदिर अपूर्ण सा रहा और महाराज स्वर्गयात्रा कर गए। राजसिंहासन पर यशस्वी महाराज मधुकर साह आसीन हुए। मुगलवंश का भाग्य इस समय पूर्णिमा के चंद्रमा के समान चमचमा रहा था। शुद्ध स्वार्थी लोभी जन दिल्लीश्वर की तुलना "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" कहकर परमेश्वर से करने लगे थे और अपनी कुटिल नीति से अकबर भारतवर्ष के हिंदू राजा

मात्र से अपना संबंध जोड़ उन्हें धोखा दे मुसलमान बनाने का प्रबंध कर रहा था, कि इतने में महाराज मधुकर साह का अर्कोदय हो उठा। उनकी विमल कीर्ति मुगल-सम्राट् का हृदय सालने लगी। उसके यश का खद्योत इनके यशार्क के सम्मुख कांतिहीन सा हो गया और उसके यश की जर्जरित नौका इनके अगम्य कीर्तिसागर में डूबती जान पड़ी। तब दुराग्रही मुगल-सम्राट् ने ईर्षावश इन्हें भी राजपूताने के कुछ राजपूतवंशों के समान अपनी दासत्व-शृंखला में बाँधने के नाना उपाय रचे, परंतु यहाँ तो "भूख मरै दिन सात लौं सिंह घास नहिं खाय" की दशा थी। अकबर ने सब प्रयोगों के निष्फल होने पर अपने पुत्र मुराद को बलाध्यक्ष कर इन पर सेना संधान किया। परंतु वह सेना महाराज के कृपाण के प्रज्वलित दीपज्योति की पतंग हुई। मुराद रण से भाग गया, अंत में अकबर ने हार मानकर इनसे संधि कर ली। कवींद्र केशवदासजी के पितामह कृष्णदत्तजी मिश्र, जो प्रख्यात प्रबोधचंद्रोदय नामक रूपक के रचयिता हैं, इन्हीं महाराज के राजपंडित थे।

इन महाराज का और अकबर का यहाँ तक घनिष्ठ संबंध बढ़ता गया और अकबर इनका यहाँ तक कृपाकांक्षी रहा कि उसने इनके पुत्र महाराज रत्नसेन के सिर पर अपने हाथ से पगड़ी बाँधी और इनके ज्येष्ठ पुत्र महाराज रामशाह की सहायता ले दक्षिण विजय किया। महाराज के स्वर्गवासी होने पर वीरकेशरी महाराज वीरसिंहदेव राज्याधिकारी हुए।

औदार्य, निश्छलता और शौर्य इन्हीं के भाग्य में आ पड़ा था। अकबर के आचरणों से इन्हें स्वाभाविक घृणा थी। स्त्रियों का बाजार लगवाकर वहाँ से महिलागणों को भटकवाकर उनका धर्म-नाश करने और व्यर्थ राजपूत राजाओं को अपनी बेटियाँ यवनों के घर ब्याहने के लिये सताने आदि की उसकी कार्रवाइयाँ सुन सुन इनकी क्रोधाग्नि भड़क उठा करती थी। ये ऐसा अवसर ढूँढ़ा ही करते थे कि अकबर किसी प्रकार इनसे रण रोपे और यह अपने हाथ से उसका दर्प दमन करें। होते होते ऐसा अवसर आ ही पड़ा। युवराज सलीम और उसके पिता अकबर में परस्पर वैमनस्य रहा करता था, क्योंकि अकबर तो अपने मंत्रियों के पैरों चलता था, विशेषतः अबुल फज्ल के। अबुल फज्ल यह चाहा करता था कि अकबर के पश्चात् किसी ऐसे को बादशाह बनावे जो उसके हाथ की कठपुतली हो। सलीम अपने पैरों चलनेहारा था, इसी कारण वह अबुल फज्ल को खटकता था। अबुल फज्ल फूट डालकर अकबर को सलीम से लड़ाता रहता था। सलीम अपना पक्ष पिता की दृष्टि में निर्बल पाकर किसी बड़े तथा बलवान् का आश्रय ढूँढ़ने लगा। अंत में उसकी दृष्टि में वीर महाराज वीरसिंहदेव ही "निरबल को बल राम" दिखाई पड़े। सलीम आकर महाराज का पाहुना हुआ और उसने अपना सब वृत्तांत कहा। महाराज ने उसे सहायता देने का संकल्प किया और जब गोलकुंडे से अबुल फज्ल लौटकर आगरे आ

रहा था, तब ग्वालियर के निकट आंतरी की घाटी में इन्होंने उससे रण रोपा और अपने हाथ से अकबर के एकमात्र प्यारे मंत्री का सिर काट सलीम के पास प्रयाग भेज दिया और इस प्रकार अकबर को युद्ध के लिये उत्तेजित किया। परंतु अकबर इतने पर भी इनके सम्मुख रण रोपने का साहस न कर सका; रो रोकर अबुल फज्ल के शोक में अपना जीवन घटाता रहा और अंत में अपने बुढ़ापे के दो वर्षों को काट मर गया। ओड़छे का राज्य तथा बुँदेलकुल के भाग्य का भानु इस समय पूर्ण उन्नति पर था। भारतवर्ष में उसकी प्रख्याति हो रही थी। राजसभा सर्वांगपूर्ण थी। महाराज वीरसिंहदेव को महाराज इंद्रजीत से सहोदर मिले थे, जिनका चातुर्य्य संसार भर में प्रगट था। महाराज को सावंत विक्रमसिंह, अर्जुनसिंह ऐसे स्वामिभक्त कर्मचारी और रामचंद्रिका, कवि-प्रिया, रसिकप्रिया, विज्ञानगीता ऐसे ग्रंथों के रचयिता कवींद्र केशवदास से कवि और प्रवीणराय, सत्यराय, रंगराय सदृश काव्यकलासंपन्न, गान तथा वाद्य-विद्यापारंगत गायिकाएँ मिली थीं। ओड़छाधीश की जय देश-देशांतर में बोली जाती थी।

ऐसी उन्नति के दिनों में, पाठक महानुभाव, हम आपको एक बार उस टापू पर, जो तुंगारण्य से आगे हम आपको वेत्रवती की दो धाराओं के बीच में दिखा चुके हैं, फिर ले जाना चाहते हैं। यह टापू रघुनाथजी के मंदिर के द्वार के सामने ठीक सीध में पड़ता है। चतुर्भुजजी के मंदिर के सभामंडप

में खड़े हो जाइए, इस टापू की एक एक अंगुल भूमि दिखाई पड़ेगी। जन-रव है कि एक बार महाराज वीरसिंहदेव चतुर्भुजजी के मंदिर का दर्शन कर सम्मुख के द्वार पर खड़े बेतवा की तरंग-माला देख रहे थे, इतने में उनको अनायास एक ग्रामीण युवती दिखाई पड़ी। यह युवती अपने सिर पर एक डलिया लिए दूसरे तट से आ रही थी। ज्योंही नदी की एक धार मँझियाकर टापू के तट पर पहुँची, त्योंही वह प्रसव-पीड़ा से विकल होकर सिर से डलिया उतार वहीं बैठ गई और मूर्छित हो गई। थोड़ी देर पीछे वह फिर विकल होकर रो उठी। दयालु वीरसिंहदेव यह कौतुक देख ही रहे थे। उनको प्रगट हो गया कि वह नवलबाल प्रसव-पीड़ा से विकल है। महाराज ने उसी समय राजमंदिर में जा परिचारिकाओं को इसलिये भेजा कि वे उस निस्सहाय युवती की रक्षा करें। परिचारिकाओं ने जाकर उसे सँभाला और वहीं उसके पुत्र का जन्म हुआ। महाराज वीरसिंहदेव ने उसे तुरंत पालकी पर बालक सहित उठवा मँगाया और बड़े प्रेम से उसकी रक्षा और सेवा कराई। अंत में उसे उसके पति को सौंप दिया और प्रस्थान के समय उसे बहुत सा धन, रत्न, वस्त्रादि दे अपनी बेटी कह दिया। वह युवती ब्राह्मण वर्ण की थी। सती ब्राह्मणी उनको बहुत आशीर्वचन कहती अपने पति के घर गई। राजा के इस दयासंपन्न कार्य की ख्याति फैल गई। कहते हैं कि जब महाराज उस ब्राह्मणी को प्रस्थान करा रहे थे, तब एक महात्मा

आकर राजा के सम्मुख खड़े हो गए और बोले "राजन्! तेरा यह पुण्यकार्य तेरे सब पुण्यकार्यों से गुरुतर है, यह टापू सिद्धा-श्रम है और तूने भी यहाँ पर महायज्ञ किया है। यदि तू यहाँ पर अपना राजमंदिर तथा कोट बनवावेगा तो तेरा आतंक वहाँ पर बैठ आज्ञा करने से दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जायगा।" सिद्धवचन सिर पर धर राजा ने उसी समय वहाँ राजमंदिर आदि बनवाना प्रारंभ कर दिया। कहते हैं कि जब किले के लिये टापू में नींव खोदी जा रही थी, तब एक मठ भूमि के भीतर दिखाई पड़ा। जब वह खोला गया तब एक और सिद्धजी के दर्शन हुए, जिन्होंने यही आदेश किया कि मेरा मठ ज्यों का त्यों ही बंद करके ऊपर से अपना कोट बना लो। राजा ने वैसा ही किया और कुछ काल में कोट बनकर प्रस्तुत हो गया। महाराज के कोट के भीतर ही और बहुत से कार्यालय बन गए और ओड़छा राजसभा के प्रवीण सभा-सदों के सुयश की सुवास दूर दूर तक फैलने लगी। महाराज और उनके सहोदर इस अपने सौभाग्य को परिपूर्ण देख फूले नहीं समाते थे। "संसार परिवर्त्तनशील है", महाराज को यह बात भी भली भाँति ज्ञात थी कि मध्याह्न के पश्चात् साँझ होती है। शरीरधारी एक न एक दिवस मृत्यु का ग्रास होता ही है। कवींद्र केशवदासजी से महाराज ने स्पष्ट शब्दों में एक बार कह ही डाला कि हमारी जीवन-संध्या होने का समय अब निकट आ चला, इसका तो मुझे कुछ शोक नहीं है, परंतु जब

जब यह ध्यान आता है कि मृत्यु के प्रचंड बवंडर के झोंके से उड़ बालू के कणों की भाँति यह मंडली भी तितर बितर हो जायगी तब आँखों के सम्मुख अंधकार सा छा जाता है और चित्त शोकाकुल हो उठता है, क्योंकि ऐसा समाज अब जन्मांतर में भी मिलना कठिन प्रतीत होता है। गुरुवर, क्या आपके शास्त्र में कुछ ऐसा उपाय है जिससे यह समाज अधिक काल तक स्थिर रह सके ? कवींद्र ने उत्तर दिया कि राजन् ! उपाय तो अवश्य है परंतु बहुत दुःखप्रद है। समस्त सभा यदि एक बार ही आत्मसमर्पण कर दे तो यह समाज प्रेतयोनि में एक सहस्र वर्ष तक स्थित रह सकता है। राजा ने उपाय से सहमत हो कृत्य का विधान पूछा। कवींद्र ने प्रेतयज्ञ* का विधान कहा। राजा ने यज्ञ के लिए आज्ञा दी। तुंगारण्य पर वेत्रवती-तट के दक्षिण ओर प्रेतयज्ञ के लिये वेदी रची गई और वहाँ पर सब सभा प्रेतयज्ञ में आत्मसमर्पण कर भस्मीभूत हुई। मेरे अनुमान में यह ठौर महाराज वीरसिंहदेव के समाधि-मंदिर के पास कहीं पर होगा। प्रेतयज्ञ हुआ तो तुंगारण्य में ही; परंतु ठीक चिह्न अनिश्चित है†। महाराज के भस्मीभूत होते ही ओड़छे के भाग्य ने पुनः पलटा खाया। काल-चक्र किसी और ही गति पर घूमने लगा और महात्मा सूर-दासजी का वाक्य "सबै दिन जात न एक समान" यहाँ पर

---

* इसका सविस्तर वृत्तांत जानने के लिये प्रेतयज्ञ नामक नाटक देखिए।

† कोई कोई प्रेतयज्ञ का स्थान सिंहपौर के निकट बताते हैं।

फिर चरितार्थ हुआ। जिस वीरकेशरी ने अकबर ऐसे प्रबल सम्राट् का दर्प दमन किया था, उसके ही निर्बल पुत्र शाहजहाँ बादशाह के अधीन हो दिल्ली के दरबारे-आम के खंभों से टिककर विनीत भाव से खड़े रहने लगे। केशवदास, विक्रम-सिंह, अर्जुनसिंहादि अमात्यों के ठौर प्रतीतराय सदृश अमात्यों की प्रतीति होने लगी। विहारीलाल के समान कवि "जिन दिन देखे वे कुसुम गई सो बीति बहार। अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार" यह कह ओड़छा छोड़ने लगे। पाठक महाशयो! विहारीलालजी के "अपत कटीली डार" वाक्य से ही समझ लीजिए कि इतने ही स्वल्प काल में, अर्थात् पिता से पुत्र तक राज्य आने में, क्या अंतर पड़ गया। कवि अपने पिता केशवदासजी के समय के ओड़छे की उपमा गुलाब के लहलहे पुष्पमंडित प्रासाद से और अपने समय के ओड़छे की 'अपत कटीली डार' से देते हैं। एक और दोहे में वे स्वयं कह चुके हैं "यहि आशा अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल। ह्वैहैं बहुरि वसंत ऋतु इन डारन वे फूल"। ओड़छे की राजसभा ने यहाँ तक पलटा खाया कि जिस राजवंश के लोग बंधुप्रेम में एक दूसरे पर प्राण निछावर करने को प्रस्तुत रहते थे, उन्हीं की गद्दी के अधिकारी अपने सहोदरों को विष देने लगे। राजकुमार हरदेवसिंहजी* को उनके बड़े भाई ने

* प्रकट हो कि विसूचिका के दिनों में इन्हीं हरदेव की पूजा देश-देशांतर में रोगशांत्यर्थ होती है।

अपनी पत्नी द्वारा विष दिलवाया; इस जघन्य कार्य पर राज-वंश से सब संबंधी और सजातीय रुष्ट हो गए। इन्हीं वीरों पर राज के महत्त्व-मंदिर की नीँव थी, वह उनकी उदासीनता से ऐसी पोली पड़ी कि राज्य धसकने लगा। संबंधी इधर उधर तितर बितर हो, अपने छोटे छोटे राज्य अलग बना बैठे, जिनमें से बहुत से अब तक बुँदेलखंड के अंतर्गत वर्तमान हैं। ओड़छा धीरे धीरे उजड़ने लगा, फिर कोई विशेष ख्याति के कार्य ऐसे नहीं हुए जिनसे इतिहास के पत्र सुभूषित होते। पर ओड़छा राज्य बना रहा; ओड़छे के राजमंदिर में दीपक जलते रहे। थोड़े दिनों में राजधानी ओड़छे से उठाकर टीकमगढ़ में कर दी गई। ओड़छे के राजमंदिरों में ताले पड़ गए। जहाँ रात-दिन राजकर्मचारियों, राजकुमारों, सैनिकों, सेवकों और दास-दासियों के कोलाहल से "निज पराय कछु सुनिय न काना" का वाक्य सत्य होता था वहाँ अब चतुर्दिक् निःस्तब्धता ही निःस्तब्धता भीषण रूप में छाई है। धन्य है, कालदेव! तुम्हारे विचित्र कौतुक हैं! शिवधनुष टालने का साहस तो भगवान् रामचंद्रजी ने कर लिया था, परंतु तुम्हारे चक्र को थामने की सामर्थ्य त्रैलोक्य में किसी को नहीं है। राजसभा टीकमगढ़ में हो जाने से ओड़छा अब नितांत छविहीन हो गया है।

—कृष्णबलदेव वर्म्मा

(७) बातचीत

इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यों को दी हैं उनमें वाक्शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और और इंद्रियाँ अपनी अपनी शक्तियों से अविकल रहतीं और वाक्शक्ति उसमें न होती तो हम नहीं जानते कि इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सब लोग लुंज-पुंज से हो मानों कोने में बैठा दिए गए होते और जो कुछ सुख-दुःख का अनुभव हम अपनी दूसरी दूसरी इंद्रियों के द्वारा करते उसे, अवाक् होने के कारण आपस में, एक दूसरे से कुछ न कह सुन सकते। इस वाक्शक्ति के अनेक फायदों में "स्पीच" वक्तृता और बातचीत दोनों हैं। किंतु स्पीच से बातचीत का कुछ ढंग ही निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज नखरा जाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता कि वह एक बड़े अंदाज से गिन गिनकर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवाचन या नांदीपाठ की भाँति घड़ियों तक साहबान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज एंड जेंटिलमेन की बहुत सी स्तुति कर कराय तब किसी तरह वक्तृता का आरंभ करे। जहाँ कोई मर्म या नोक की चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि तालि-ध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिये वक्ता को खामखाह ढूँढ़कर कोई

ऐसा मौका अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिसमें करतल-ध्वनि अवश्य हो।

वही हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है न लोगों को कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हँस पड़े तो मुसकराहट से ओठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी जिंदगी मजेदार बनाने के लिये खाने, पीने, चलने. फिरने आदि की जरूरत है वहाँ बातचीत की भी हमको अत्यंत आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुवाँ जमा रहता है वह बातचीत के जरिये भाफ बन बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मजा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ देते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसंद आता है पर बातचीत का मजा नहीं खोया चाहते। राबिन्सन क्रूसो का किस्सा बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा जिसे १६ वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी

नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच में रह १६ वर्ष के उपरांत उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी। यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था पर उस समय राबिन्सन को ऐसा आनंद हुआ मानों इसने नए सिरे से फिरके आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की वाक्-शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ उन्हें अपने प्रेमी से कितनी लालसा बात करने की रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे को प्रकट करना और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्दों ही के द्वारा हो सकता है। सच है—

"तामर्द सखुन गुफ्ता बाशद—ऐबो हुनरश निहुफ्ता बाशद"

"तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते"

बेन जानसन का यह कहना, कि बोलने ही से मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है, बहुत ही उचित बोध होता है।

इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रखी जा सकती है जितनों की जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन का मत है कि असल बातचीत सिर्फ दो में हो सकती है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसों दूर गई। कहा है—

"षट् कर्णो भिद्यते मंत्रः"

दूसरे यह कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या वे दोनों हिजाब में आय अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख और अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे। इसी से

"द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्"

लिखा है। जैसे गरम दूध और ठंढे पानी के दो बरतन पास सॉट के रखे जायँ तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है अर्थात् दूध ठंढा हो जाता है और पानी गरम, वैसे ही दो आदमी पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है, चाहे एक दूसरे को देखे भी नहीं। तब बोलने की कौन कहे। पर एक का दूसरे पर असर होना शुरू हो जाता है। एक के शरीर की विद्युत् दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर होगा इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के समय में देखना चाहिए। मानों एक से त्रिकोण सा बन जाता है। तीनों का चित्त मानों तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानों उस त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं। गुप-चुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है। जो बात-चीत तीनों में की गई वह मानों अँगूठी में नग सी जड़ जाती है उपरांत जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफी को बिल्कुल स्थान नहीं रहता। खुलके बातें न होंगी। जो कुछ बात-चीत की जायगी वह "फार्मेलिटी", गौरव और संजीदगी के

लच्छे में सनी हुई। चार से अधिक की बातचीत तो केवल रामरमौवल कहलावेगी। उसे हम संलाप नहीं कह सकते। इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत प्रायः जमाने की शिकायत पर हुआ करती है। बाबा आदम के समय का ऐसा दास्तान शुरू करते हैं जिनमें चार सच तो दस झूठ। एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छूट जाना चाहिए पहरों बीत जाने पर भी अंत न होगा। प्रायः अँगरेजी राज्य, परदेश और पुराने समय की बुरी से बुरी रीति-नीति का अनुमोदन और इस समय के सब भाँति लायक नौजवानों की निंदा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। पढ़े लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेंसर उनकी जीभ के आगे नाचा करेंगे। अपनी लियाकत के नशे में चूर चूर 'हमचुनी दीगरे-नेस्त'। अक्खड़ कुश्तीबाज हुए तो अपनी पहलवानी और अपने अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे। आशिकतन हुए तो अपनी अपनी प्रेमपात्री की प्रशंसा तथा आशिकतन बनने की हिमाकत की डींग मारेंगे। दो ज्ञातयौवना हम-सहेलियों की बातचीत का कुछ जायका ही निराला है। इसका समुद्र मानों उमड़ा चला आ रहा है। इसका पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्हें ऐसों की रससनी बातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

"प्रजल्पन्मत्पदे लग्नः कान्तः किं ? नहि नूपुरः।"

"वदन्ती जारवृत्तान्तं पत्यौ धूर्ता सखीधिया।
पतिं बुद्ध्वा सखि ततः प्रबुद्धा स्मीत्यपूरयत्॥"

ऊर्द्धजरती बुढ़ियों की बातचीत का मुख्य प्रकरण बहू-बेटीवाली हुईं तो अपनी बहुओं या बेटों का गिल्ला शिकवा होगा या बिरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ बैठेंगो कि बात करते करते अंत में खोढ़े दाँत निकाल लड़ने लगेंगो। लड़कों की बातचीत खिलाड़ो हुए तो अपनी अपनी आवारगी की तारीफ करने के बाद कोई ऐसी सलाह गाँठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी जाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़कों की बातचीत का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ या अपने सहपाठियों में किसी के गुन-औगुन का कथोपकथन होता है। पढ़ने में तेज हुआ तो कभी अपने मुकाबले दूसरे को फौकौयत न देगा। सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्लो का सा स्कूल भर को अपना गुरु ही मानेगा। अलावा इसके बातचीत की और बहुत सी किस्में हैं। राज-काज की बात, व्यापार-संबंधो बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि। हमारे देश में नीच जाति के लोगों में बतकही होती है। लड़की लड़केवाले की ओर से एक एक आदमी बिच-वई होकर दोनों के विवाह-संबंध की कुछ बातचीत करते हैं। उस दिन से बिरादरीवालों को जाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की का अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रसम बड़े उत्सव के साथ की जाती है। एक चंडूखाने की बातचीत होती है, इत्यादि सब बात करने के अनेक प्रकार और ढंग हैं।

यूरोप के लोगों में बात करने का हुनर है। "आर्ट आफ कनवरसेशन" यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला-प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यंत सुख मिलता है। सुहृद् गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद्-गोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ है कि बात करनेवालों की लियाकत अथवा पांडित्य का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रकट हो वरन् जितने क्रम रसाभास पैदा करनेवाले सभों को बरकते हुए चतुर सयाने अपनी बातचीत का अक्रम रखते हैं वह हमारे आधुनिक शुष्क पंडितों की बातचीत में जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं कभी आवेगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर की लड़ाइयों की झपटाझपटी के समान जिनकी नीरस कांव कांँव में सरस संलाप का तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक दूसरे को अपने पांडित्य के प्रकाश से वाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव काँव करते रहेंगे तो कुछ न होगा। बड़ी बड़ी कंपनी और कारखाने आदि बड़े से बड़े काम इसी तरह पहले दो चार दिली दोस्तों की बातचीत ही से शुरू किए गए। उपरांत बढ़ते बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उससे जीविका और लाखों की साल में आमदनी उसमें है। पचीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही कुछ न कुछ सारगर्भित होगी, अनुभव और दूरंदेशी से

खाली न होगी और पचीस से नीचे की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिल-बहलाव और ताजगी रहती है जिसकी मिठास उससे दसगुना अधिक चढ़ी बढ़ी है। यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा जिसमें दूसरे फरीक के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमीं जाकर दूसरे को सर्फराज करें। पर यह सब तो दुनियादारी है जिसमें कभी कभी रसाभास होते देर नहीं लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमीं उनके यहाँ गए तो पहले तो बिना बुलाए जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन माफिक बर्ताव न किया गया तो मानो एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इसलिये सबसे उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नए नए रंग दिखाया करती है और जो वह प्रपंचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आईना है, जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना, कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुए हैं। इस चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिल-

बहलाव है ? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी न पहुँच सका। इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त को एकाग्र करना है जिसका साधन एक दो दिन का काम नहीं, सालहासाल के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ा भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर अवाक् हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो मानों अति भाग्य। एक वाक्‌शक्ति मात्र के दमन से न जानिए कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा जो कतरनी के समान सदा स्वच्छंद चला करती है उसे यदि हमने दबाकर काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े बड़े अजेय शत्रुओं को बिना प्रयास जीत अपने वश कर डाला। इसलिये अवाक् रह अपने आप बातचीत करने का यह साधन यावत् साधनों का मूल है, शांति का परमपूज्य मंदिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

— बालकृष्ण भट्ट

(८) प्रकृति-सौंदर्य

हरिणचरणक्षुण्णोपांताः सशाद्वलनिर्झराः,
कुसुमकलितैर्विष्वग्वातैस्तरंगितपादपाः ।
विविधविहगश्रेणीचित्रस्वनप्रतिनादिता
मनसि न मुदं दध्युः केषां शिवा वनभूमयः ॥

—सुभाषित

भावार्थ—जहाँ हरी हरी दूब का गलीचा सा बिछा है, जिस पर हिरनों के खुरों के चिह्न चिह्नित हैं, निकट ही सुंदर झरने बह रहे हैं, कमनीय कुसुमों के मधुर सुगंध से सुगंधमय पवन बह रही है और तरुवर हिल रहे हैं, उन पर तरह तरह के विहंगम अपनी तरह तरह की मंजुल ध्वनि से संपूर्ण प्रदेश को प्रतिनादित कर रहे हैं, ऐसी परम रमणीय वनस्थली किसके मन को आनंदित न करेगी ?

प्रकृति की सुषमा सचमुच सुंदर है, परंतु उसे समझने की शक्ति थोड़े ही लोगों में होती है।

प्रचंड ऊर्मिमय गंभीरघोषी महासागर का प्रथम दर्शन करने, निर्जन और घोर अरण्य में—जहाँ चिड़ियाँ पंख नहीं मारतीं—प्रथम ही प्रवास करने, पृथ्वी के ऊँचे पहाड़ों की चोटियों के स्फोट के कारण महाभयंकर ज्वालामुखी के डरावने मुख से पृथ्वी के पेट से बह निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु

इत्यादि पदार्थों के रस के प्रवाह को प्रथम ही देखने अथवा नितांत शीत के कारण बर्फ से ढँके हुए स्फटिकमय प्रदेश में चलने से जो नया और अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है उसका कुछ अकथनीय संस्कार मन पर होता है। ये चमत्कारमयी प्राकृतिक घटनाएँ मानों प्रकृति देवी की लीलाएँ हैं। इनके देखनेवाले को ऐसा मालूम होता है कि मानों वह किसी नए जगत् में खड़ा है और उसकी कल्पना और वर्णनशक्ति स्तंभित हो गई है।

प्रकृति के सौंदर्य को समझने के पूर्व हमें उसे देखने का अभ्यास करना चाहिए। प्रकृति की तरफ ध्यान न देने की अपेक्षा उसे देखना सहज है और जिस वस्तु की ओर मनुष्य देखे उसके रहस्य को जान लेना तो मनुष्य का स्वभाव ही है। सौंदर्य-शास्त्र का ज्ञाता रस्किन लिखता है—"हमारी जीवात्मा इस भूमि पर एक काम सर्वदा किया करती है—अर्थात् प्रकृति-निरीक्षण, और जो कुछ वह देखती है उसका वर्णन करती है।" ज्ञानवान् मनुष्य की आँखें हमारी आँखों से कुछ भिन्न नहीं हैं; परंतु हमें जो नहीं दिखाई देता वह उसे दिखाई देता है। कहा भी है—

बदन, श्रवण, दृग, नासिका, सब ही के इक ठौर।
कहिबो, सुनिबो, देखिबो, चतुरन को कछु और॥

जो कोई ध्यानपूर्वक देखने का अभ्यास करेगा उसे वर्षा-ऋतु में हर घड़ी एक नया दृश्य दिखाई देगा। खेत में या जंगल में खड़े होकर देखने में अपूर्व वन-शोभा दिखाई पड़ती

है। आकाश घड़ी घड़ी रंग बदलकर अपनी निर्मल शोभा और घनों की घटा की छाया भूमि पर डालता हुआ दिखाई देगा।

प्राकृतिक सौंदर्य को देख आनंदित होना मन का एक उत्तम गुण है। इस गुण का बीज यदि हम नष्ट कर देंगे तो हमारे चरित्र पर उसका अनिष्टकारक परिणाम होगा। इसलिये जिसे प्रकृति की सुंदरता देखकर आह्लाद नहीं होता उसका दुर्जन होना साधारण बात है किंतु प्राकृतिक सौंदर्य से प्रेम रखनेवाला मनुष्य हँसमुख, आनंदी और प्रसन्नचित्त होता है, इसमें संदेह नहीं।

विकसितसहकारभारहारि-परिमल-पुंजित-गुंजित-द्विरेफः ।
नव-किसलय-चारु-चामर-श्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसंतः ॥

भाव—आम्र-मंजरी की सुगंध के चारों ओर फैल जाने से भृंगवृंद गुंजार करते हुए उन पर मोहित हो जाते हैं। वृक्षों के नवीन कोमल पत्ते फूटकर सुंदर चँवर की भाँति सुहाते हैं, ऐसे वसंत की शोभा मुनिजनों के भी मन को हर लेती है, फिर मनुष्य का कहना ही क्या है?

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहै पदमाकर पराग हू में पौन हू में,
पातिन में पीकन पलाशन पगंत है॥
द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में,
देखो द्वीप द्वीपन में दीपति दिगंत है।

बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरयो बसंत है ॥

यह वसंत-वर्णन अद्वितीय है। अपने प्राचीन कवियों के सृष्टि-चमत्कारों के वर्णन जहाँ तहाँ ऋतु-वर्णन के रूप में देखने से उनकी प्रकृति के सूक्ष्म अवलोकन की शक्ति का परिचय मिलता है।

फूलों को कवि प्रथम स्थान देते हैं। सचमुच वनश्री का दृश्य कल्पना के सम्मुख आते ही प्रथम फूलों का दर्शन होता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुष्पों को प्रकृति देवी ने मनुष्य जाति के ही सुख के लिये बनाया है। बालक फूलों पर बहुत प्रीति करते हैं। सुंदर और शांतिमय आनंद देनेवाले फूलों पर बागवान, कृषक ऐसे गरीब लोग भी प्रीति करते हैं। ऐश आराम में पड़े हुए विषयी लोग फूल तोड़कर अपने उपभोग में लाते हैं। नागरिकों और ग्रामीणों की फूलों पर एक सी प्रीति होती है।

हर एक ऋतु के फूल अलग अलग होते हैं। फूलों के उद्भव का समय वसंत, ग्रीष्म और शरद् ऋतु हैं, तथापि जंगलों में, पहाड़ों में, वनस्थली में, समुद्र-तीर पर सर्व काल में भाँति भाँति के पुष्प खिलते रहते हैं।

कुसुम-दर्शन से केवल नयनों को ही सुख नहीं होता, उनसे ज्ञान और उपदेश प्राप्त करनेवाले के लिये उपदेश भी मिल सकता है। पुष्पों के मनोहर रंग और विचित्र आकृतियों को

देख ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी विशेष और बड़े उद्देश्य के लिये ईश्वर ने उन्हें बनाया है ।

फूलों के समान वृक्ष और लताएँ भी बड़ी रमणीय मालूम होती हैं । वे प्राकृतिक दृश्य के सौंदर्य के पोषक हैं । बड़े बड़े वृक्षों में छोटे पुष्प लगते हैं और छोटे वृक्षों और वन-लताओं में बड़े फूल आते हैं । उनकी शोभा निराली है । वृक्षों की पल्लवश्री सदा सर्व काल में अपनी प्रशांत शोभा बनाए रखती है और हर एक वृक्ष एक सुंदर चित्र सा बना रहता है ।

शीत प्रदेश के वन ग्रीष्म ऋतु के दिनों में बहुत शोभायमान दिखाई पड़ते हैं, परंतु जाड़े के दिनों में जब बर्फ पड़ती है, तब वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं और पल्लव-रहित शाखाओं पर बर्फ का मुलम्मा चढ़ जाता है । वह दृश्य अपने ढंग का निराला होता है । उष्ण प्रदेशों के अरण्यों की और जंगलों की शोभा इससे बहुत भिन्न होती है । वहाँ वृक्ष सीधे, ऊँचे गगनचुंबी दिखाई पड़ते हैं । नीचे कुछ दूर तक एक बड़ा सरल स्कंध होता है । उसके आसपास का भाग सघन छाया के कारण अत्यंत शीतल और रम्य दिखाई देता है । ऊपर घनी शाखाओं का जाल मेघाडंबर के समान फैला होता है । इन सघन जंगलों में रविकिरणों की अगवानी करने की इच्छा से मानों सब कुछ ऊपर ही को चढ़ता हुआ दिखाई देता है । कुछ जानवर वृक्षों पर चढ़ जाते हैं । पक्षी तो तरुवरों के शिखरों की ऊँची से ऊँची डालियों पर बैठे चहक-चहककर मधुर गीत

गाया ही करते हैं। साँप, अजगर से रेंगनेवाले प्राणी भी ऊपर चढ़ जाते हैं। बेल और लताएँ तो वृक्षों से लिपटती हुई मानों प्रेमालिंगन का सुख उठा रही हैं और ऊपर तक बढ़ी चली जाती हैं। इनकी इतनी अधिक जातियाँ उष्ण प्रदेशों में होती हैं जितनी अन्य देशों में देखने में नहीं आतीं। दक्षिण के अरण्यों का वर्णन जो महाकवि भवभूति ने किया है वह उष्ण प्रदेशों की वन-शोभा का उत्तम दर्शक है।

ये गिरि सोय जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरनि की धुनि छाई।
या बन में कमनीय मृगानि की लोल कलोलनि डोलति भाई॥
सोहै सरित्तट धारि घनी जलवृक्षन की नवनील निकाई।
मंजुल मंजु लतानि की चारु चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥

लसत सघन श्यामल विपिन, जहँ हरषावत अंग।
करि कलोल कलरव करत, नाना भाँति विहंग॥
फल-भारन सों झालरे, हरे वृच्छ झुकि जाँहि।
झिलमिलाति झाँई सुतिन, गोदावरि जल माँहि॥

जहाँ बाँस-पुंज कंज कलित कुटीर माँहि
घोरत उलूक भीर घोर घुघियायकैं।
तासु धुनि प्रतिधुनि सुनि काककुल मूक
भय-बस लेत ना उड़ान कहुँ धायकैं॥
इत उत डोलत सु बोलत हैं मोर, तिन
सोर सन सरप दरप बिसरायकैं।

परम पुरान सिरीखंड तरु कोटर में
मारत स्वकुंडली सिकुरि घबराय कैं ॥
जिन कुहरनि गदगद नदति, गोदावरि की धार।
शिखर श्याम घन सजल सों, ते दक्खिनी पहार ॥
करत कुलाहल दूरि सों, चंचल उठत उतंग।
एक दूसरी सों जहाँ, खाइ चपेट तरंग॥
अति अगाध विलसत सलिल, छटा अटल अभिराम।
मन भावन पावन परम, ते सरि संगम धाम॥

—उत्तररामचरित

कितनी ही जंगली जातियाँ वृक्षों को देवता मानकर पूजती हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जब हम अकेले अरण्यों में जाते हैं तब यदि कोई एक वृक्ष हमसे वार्तालाप करने लगे तो हमें उसका कुतूहल होगा और आनंद भी होगा। दिन के समय किसी घोरतर अरण्य में जाने से एक तरह का भय भी मालूम होता है।

जहाँ तरुपल्लवश्री का साम्राज्य है वहाँ पानी का स्थल अवश्य ही निकट होता है। नदी, सरोवर, निर्झर इत्यादि जहाँ होते हैं वहाँ की वनज सुंदरता अत्यंत गंभीर होती है। मेघमंडल में घन उमड़कर नीलाकाश की शोभा बढ़ाते हैं। प्रातःकाल के अंधकारमय कुहरे में सरोवर और नदियों का निर्मल जल स्फटिक के समान चमकीला दिखाई पड़ता है। पानी उद्भिद् जगत् का जीवन है। पानी के आधार पर बड़े बड़े

मैदान हरे भरे दिखाई देते हैं। पानी के नित्य प्रवाह से नर्मदा नदी के काटे हुए जो संगमर्मर के बड़े बड़े पर्वत और पत्थर जबलपुर जिले में भेड़ाघाट के पास खड़े हैं उनसे अद्वितीय दृश्य और प्रकृति की कार्य-कुशलता का परिचय मिलता है।

महानदी का दर्शन तथा विस्तीर्ण सरोवर का अवलोकन थके हुए पांथ को विश्राम देता है। जलाशय में अवगाहन अत्यंत श्रमहारक और तापनिवारक है। जलागार के सुख का वर्णन महाकवि कालिदास ने बहुत ही मनोहर किया है—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्ग-सुरभि-वनवाताः।

प्रच्छाय सुलभनिद्रां दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥

भाव—सुंदर, स्वच्छ और गहरे जलाशय में मनमाना डूब डूबकर नहाना सुख देता है। वनोपवनों में से पाटल पुष्पों की सुगंधि से भरी मंद, शीतल पवन आनंद देती है। गहरी छाया में नींद तुरंत आ जाती है और सायंकाल का समय नितांत रमणीय होता है। ऐसे ग्रीष्म काल के दिन होते हैं।

समुद्रयात्रा करनेवालों को समुद्र बड़ा प्रिय मालूम होता है। आकाश की अपेक्षा समुद्र अधिक स्वाधीन और ऐश्वर्य-शाली है। समुद्र का किनारा अनंत जीवों से तथा वनस्पति से भरा होता है। उनमें से कितने ही प्राणी ज्वारभाटे की राह देखते रहते हैं और कितने ही ऐसे होते हैं जिन्हें समुद्र की लहरों ने समुद्र से बाहर जोर से निकालकर फेंक दिया है। समुद्र-तट पर खड़े रहने से समुद्र के निकट रहनेवाले

पक्षियों का कर्णविदारी भयकारी शब्द सुनाई देता है। समुद्र की वायु का स्पर्श होते ही शरीर में फुरती पैदा होती है और काम करने की इच्छा हो आती है।

समुद्र का स्वरूप सदा बदलता रहता है। प्रातःकाल से सायंकाल तक उसमें कितने ही उलट फेर हो जाते हैं। कल्पना कीजिए कि हमारा निवास समुद्र-तट पर है और हम अपने मकान की खिड़की में बैठे नीचे देख रहे हैं। खिड़की के नीचे ही छोटा मैदान है और उसके आगे पृथ्वी नीची होती चली गई है, सामने कोसों की दूरी तक पीली रेत के सुंदर टीले चले गए हैं। इधर भगवान् मरीचिमाली उदित होकर अपनी झिलमिलाती हुई किरणों से समुद्र के विस्तीर्ण प्रदेश को प्रकाशित कर रहे हैं। जैसे जैसे सूर्यनारायण ऊपर आते जाते हैं, समुद्र प्रदेश प्रकाशित होता जाता है। दूर के उन्नत भाग कुहरे के घन-पटल से ढँक जाते हैं। लगभग नौ बजे के समय समुद्र का रंग फीका होने लगता है। आकाश नीले रंग का होने लगता है और जहाँ तहाँ धुनी हुई स्वच्छ रुई के गालों की तरह फैले हुए बादल दिखाई देते हैं। सामने के पथरीले प्रदेश की तराई में खेत, जंगल, पत्थरों की खानें और पत्ते दिखाई देती हैं। टूटी फूटी चट्टानें विचित्र छटा दिखाती हैं। जहाँ प्रकाश नहीं पड़ता वहाँ का भाग श्यामल छाया में धुँधला दिखाई पड़ता है। दोपहर के समय समुद्र अपना रंग बदल लेता है। वह बिलकुल गहरा नीलांबर पहने दिखाई देता है

और सामने के द्वीप में छायामय अरण्य, हरी दूब से भरे मैदान और पीले रंग के खेत साफ देखने में आते हैं। टूटी चट्टानों के भाग भी स्पष्ट झलकते हैं और मछुओं की डोंगियाँ और काले पाल दृष्टिगोचर होते हैं।

समुद्र का यह स्वरूप बहुत समय तक नहीं टिकता। अचानक आकाश में बादल छा जाते हैं। हवा जोर से बहने लगती है और तूफान के चिह्न दिखाई देते हैं। वृक्षों के पत्तों पर गिरती हुई पानी की बूँदों की टप टप आवाज सुनाई देती है और सामने का किनारा मानों तूफान के भय से छिपा जाता है। देखते देखते समुद्र का रंग काला हो जाता है। वह खौलता हुआ गंभीर गर्जन करता है। जब वह शांत हो जाता है तब फिर घननील कलेवर धारण करता है और सूर्य के अस्त होने के पूर्व उस पर धुँधलापन छा जाता है। पर अस्तभानु के समय फिर एक नई सुनहरी छटा से उज्ज्वल और चमकीला बन जाता है। इस प्रकार समुद्र के रंग दिन भर बदलते ही रहते हैं।

समुद्र की शोभा में रात्रि के समय भी भाँति भाँति के परिवर्त्तन होते रहते हैं। कभी घना अँधेरा छा जाता है, कभी अनंत तारागणों से शोभित आकाश के सामने वह प्रशांत दर्पण की नाईं स्थिर दिखाई देता है, कभी चंद्र की सुंदर चाँदनी में सारा विश्व धुलकर धवल और शीतल बन जाता है।

कभी तूफान के समय आकाश में इंद्रधनुष दिखाई देता है। इस इंद्रधनुष के अत्यंत सुंदर और प्राकृतिक रंगों के

मेल को देख नेत्र सुखी हो जाते हैं। यह एक अद्वितीय वस्तु है। जिस रँगरेज ने इंद्रधनुष के रंग को रँगा है वह कोई अद्वितीय कारीगर है।

रंगों के ज्ञान का महत्त्व भली भाँति हमारी समझ में नहीं आता। यदि रंग का ज्ञान न होता तो छाया, आकार, प्रकाश इत्यादि की सहायता से जुदे जुदे पदार्थों की पहचान कठिन हो जाती। तथापि जिस समय हम अपने आपसे यह प्रश्न करते हैं कि सौंदर्य्य क्या वस्तु है? तो तुरंत ही सहज रीति से हमारे मन में भिन्न भिन्न रंगों के पत्तो, चिड़ियाँ, कीट, पतंग, पुष्प, रत्न, आकाश, इंद्रधनुष इत्यादि चमत्कारिक पदार्थों की कल्पना होती है।

प्रकृति देवी ने हमें जो ज्ञानेंद्रियाँ दी हैं यह उसकी हम पर बड़ी कृपा है, बड़ा उपकार है। कान न होते और श्रवण की शक्ति न होती तो संसार का सुस्वर संगीत, प्रेमीजनों का मधुर वार्तालाप और वाद्यों की मनोहर ध्वनि हमारे लिये कुछ नहीं थी। हमारे नेत्रों की रचना में एक तिल भर फर्क हो जाता तो इस विशाल विश्व का वैभव, पदार्थों के सुंदर आकार, रंगों की चमक-दमक, प्रकृति की वन-शोभा, पर्वत, नदी, सरोवर इत्यादि के प्राकृतिक दृश्य देखने से हम वंचित रह जाते। रसनेंद्रिय के अभाव से सुंदर सुस्वादु खाद्य पदार्थ हमारे लिये नष्ट हो जाते—इस प्रकार प्रकृति के संपादित किए हुए संपूर्ण सुख-साधनों का उपभोग हमें कदाचित् न मिलता।

सौंदर्योपासक रस्किन ने लिखा है कि पर्वतों की ओर देखते ही मालूम होता है कि उन्हें ईश्वर ने केवल मनुष्य ही के लिये रचा है। पर्वत मनुष्यों की शिक्षा के विद्यालय, भक्ति के मंदिर, ज्ञान की पिपासा तृप्त करने के लिये ज्ञाननिर्झरों से पूर्ण, ध्यानस्थ होने के लिये प्रशांत और निर्जन मठ और ईश्वरा-राधन के लिये पवित्र देवालय हैं। इन प्रकांड देवालयों में चट्टानों के द्वार, मेघों के फर्श, ऊँचे गिरिशिखरों से गिरते हुए जलप्रपातों की गर्जना का संकीर्तन, बर्फ के ढेरों से बनी हुई यज्ञवेदियाँ और स्थंडिल तथा अनंत तारकपुंजों से विशोभित नीले आकाश का शामियाना है।

है विश्वमंदिर विशाल सुरम्य सारा।
अत्यंत चित्तहर निर्मित ईश द्वारा॥
जो लोग प्रेक्षक यहाँ पर आ गए हैं।
गंभीर विश्व लख विस्मित वे हुए हैं॥

—कुसुमांजलि

आकाश की सुंदरता मन को मुग्ध कर देती है। जिस समय मन उदास हो और उद्विग्न हो उस समय अपने मन को प्रसन्न करने के लिये सुंदर विशाल आकाश-मंडल की ओर देखो। यदि दोपहर का समय है तो आकाश के नील मंडप में इतस्ततः फैले हुए बादल उसे विचित्र बनाते हैं। प्रातःकाल और सायंकाल के समय के आकाश का दर्शन तो सर्वदा ही अवलोकनीय होता है। रात्रि का समय है तो आकाश के

ऐश्वर्य का कहना ही क्या है! वह तेजस्वी तारागणों से भरा मानों रत्नों से भरे थाल की भाँति दिखाई देता है। नक्षत्रों का नियमित अस्तोदय, उनका भ्रमण, उनकी गति इत्यादि देखकर कुतूहल होता है और ईश्वर की अनंतता और विश्व-निर्माण शक्ति देखकर उसके विषय में पूज्य भाव पैदा होता है। जिस समय हम तारों की ओर देखते हैं तो वे हमें स्थिर और शांत दिखाई देते हैं परंतु वे उस समय कल्पनातीत वेग से यात्रा करते रहते हैं। यह चमत्कार स्वप्न में भी हमारी समझ में नहीं आता।

संपूर्ण आकाश-मंडल में दस करोड़ से भी अधिक तारे हैं। सिवाय इसके कितने ही ग्रहों के उपग्रह भी हैं। इतना ही नहीं किंतु जिनका अब तेज नष्ट हो गया है ऐसे अनेक गोले आकाश में हैं। वे अपने समय में सूर्य के समान प्रकाशमान थे, परंतु अब तेजहीन और शीतल हो गए हैं। एक वैज्ञानिक कहता है कि हमारा सूर्य भी लगभग एक करोड़ सत्तर बरस के बाद वैसा ही तेजहीन हो जायगा। धूमकेतु अर्थात् पुच्छल तारे भी आकाश में हैं। उनमें से थोड़े ही दूरबीन के बिना दिखाई पड़ सकते हैं। इनको छोड़ आकाश में भ्रमण करनेवाले अनंत तारापुंज हैं जो हमारी दृष्टि से बाहर हैं।

तारों की अनंत संख्या को देख मनुष्य कुंठित हो जाता है। फिर उनके विशाल आकार और एक दूसरे की दूरी का ज्ञान होने पर उसका क्या हाल होता है, इसका पूछना ही क्या है। समुद्र अत्यंत विस्तृत और गहरा है और उसे असीम कहने की

प्रथा है। परंतु आकाश से यदि समुद्र की तुलना की जाय तो समुद्र क्षुद्र प्रतीत होता है। महाकाय बृहस्पति और शनि की तुलना पृथ्वी से कीजिए तो पृथ्वी बिलकुल छोटी मालूम होगी और सूर्य से उन दो ग्रहों का साम्य किया जाय तो सूर्य के सामने वे बिलकुल छोटे दिखाई देंगे। संपूर्ण सूर्यमाला से यदि अपने नित्य के सूर्य की तुलना की जाय तो वह कुछ भी नहीं है। सिरियस नामक एक ग्रह इस सूर्य से भी हजारों गुना विशाल और लाखों कोस दूर है। यह सूर्यमाला आकाश के एक छोटे से प्रदेश में घूमती रहती है। इस सूर्यमाला के चारों ओर दूसरी ऐसी ही बड़ी बड़ी ग्रहमालाएँ भ्रमण कर रही हैं। नक्षत्रों में से कितने ही इतनी दूरी पर हैं कि प्रकाश की गति एक सेकंड में एक लाख अस्सी हजार मील होने पर भी उनका प्रकाश हमारी पृथ्वी तक पहुँचने के लिये बरसों का समय लगता है। इन नक्षत्रों के परे और भी न जाने कितने तारे हैं परंतु वे अत्यंत दूर हैं, इस कारण नजर नहीं आते। दूरबीन से देखने पर भी वे कुहरे की तरह धुँधले दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि वैज्ञानिकों ने विश्व की अनंतता में घुसकर बहुत कुछ चमत्कारों का पता लगाया है परंतु उसका पार नहीं पाया है। ये चमत्कार चित्त को हरनेवाले और मनुष्य के आनंद-प्रवाह के नित्य बहनेवाले झरने हैं। इसलिये इन चमत्कारों के अनुभव से संसार के क्षुद्र दुःख और बाधाओं की परवा नहीं करनी चाहिए।

—गणपत जानकीराम दूबे

---

(९) समाज और साहित्य

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छानबीन करते जाइए, उतनी ही नई नई शृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष। दोनों में कितना अंतर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ संबंध, तनिक सोचिए तो सही। एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाममात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से संपन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहल-वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं; पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वहीं उनका अंत नहीं है। वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं। मरकर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। योंही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता

है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्माति-सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जंगली अवस्था में थे। सृष्टि के आदि में सब आरंभिक जीव समान ही थे, पर सबने एकसी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अंत में प्रकृति-देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सबमें परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नए विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ

मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता होती गई त्यों त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतना ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती, अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय-संबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। मस्तिष्क के विकास से साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिये जो भाव-सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है उसके संचित भांडार

का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता-निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है; वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृंखला हो जाती है जिससे साहित्य के विशेष विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिये साहित्यरूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है,

उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिये साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहनेवाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है, और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहिनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारतभूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से जीव जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलासप्रियता में फँस-कर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगाररस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि

मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता-देवी की आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेजिनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ज्ञान धर्म की ओर रहा। जब तब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिंदू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से

कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिये कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक मति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हितविधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है तब हमारा प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक वह जो हमारा सहायक नहीं हो सका है इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस संस्कृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघशक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सकता और यह अब तक आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभा-लाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है।

यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित, प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करनेवाला, संजीवनी शक्ति का संचार करनेवाला, चरित्र को सुंदर साँचे में ढालनेवाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनेवाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी-भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है। पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं। यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी, और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

मैं थोड़ी देर के लिये आपका ध्यान हिंदी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के दोनों अंगों

की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है। उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात वा व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मत-संबंधी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सह-योगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बाँटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें कोई मतभेद नहीं कि जो हिंदी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रांतों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रांतों के शब्दों का भी अभाव-पूर्ति के निमित्त अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिए कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहाँ उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है।

पर यह बात ध्यान रखने की है कि यह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्तःकरण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे।

ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता है, वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमें सारे संस्कृत कोशों को ढूँढ़ ढूँढ़ शब्द रखे गए हों, और चार चार अंगुल के समास बिछाए गए हों; पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे, जो अपरिचित होने के कारण अंतःकरण में जल्दी न धँसेंगे, वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों के बीच जो नए नए भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो इनके जीवन-क्रम को उलटने-पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, वर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरंभ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सर-

सता नहीं आई है पर आशा है कि उन्नित पथ के अवलंबन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएँ और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रखकर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है। उसके वाक्यों का रूप-रंग कुछ निराला है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली व्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में रखना पड़ेगा। भाववैलक्षण्य के संबंध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या? खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्यक्षेत्र में जो अनधिकार-प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। कविता का अभ्यास आरंभ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नए पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति-ग्रंथों का देखना, रस, अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है।

—श्यामसुंदरदास

—

(१०) करुणा

जब बच्चे को कार्य-कारण-संबंध कुछ कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण-संबंध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दुःख के कारण वा कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठमूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं।* इसी प्रकार जब उनके किसी भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं। †

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की

---

* कार्य्य।   † कारण।

भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी कभी और व्यक्तियों वा वस्तुओं की हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा; पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभालकर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

कभी कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हें गुण कहते हैं, तीव्र होकर मनोवेगों का रूप धारण कर लेती हैं पर वे मनोवेगों में नहीं गिनी जातीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके दुःख और सुख का बहुत सा अंश दूसरों की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिये अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं।

हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिये बंद नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध वा अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिये पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंदित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद या संबंधी हो अथवा अत्यंत सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र वा हितू हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ वा कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनंद का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनंद होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उसमें वेग या क्रियोत्पादक गुण है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता

है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा विशेष संसर्ग है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली भाली सुंदरी रमणी को, किसी सच्चरित परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बंधु को दुःख में देख हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की यह सापेक्ष तीव्रता जीवननिर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि-संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके संबंध वा संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता वा दुर्जनता की कोटि में न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्यों को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण वा बचाव हुआ। अतः जिन कर्म्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिये

उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्म्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्विक हैं तथा जिस अंतःकरण-वृत्ति से इन कर्म्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है। पर एक तो कृपा वा प्रसन्नता में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा, हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो "शील" शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है,' 'शील तोड़ना अच्छा नहीं।' दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े वा जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों

की कोई बात न मानेगा तो इसलिये कि वह उसे ठीक नहीं जँचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिये नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी किसी अवस्था में तो धर्मग्रंथों में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषत: जब इस नियमभंग द्वारा अंत:करण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और नि:सहाय व्यक्ति अनुचित दंड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियमशील वा सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार केवल दंभ है। मनुष्य के अंत:करण में सात्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्विक-शीलता ही है। अतः करुणा और सात्विकता का संबंध इस बात से और भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्षा, घृणा, आनंद आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। यह दिखलाया ही जा चुका है कि प्राणियों की आदि-अंतःकरण-वृत्ति रागात्मक है। अतः मनोवेगों में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्विकता का आदि-संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य का आचरण मनोवेग वा प्रवृत्ति ही का फल है। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मनोवेग पर निर्भर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य्य में प्रवृत्त हो। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि हमारे निश्चयों का अंतिम आधार अनुभव वा कल्पना की तीव्रता ही है, बुद्धि द्वारा स्थिर की हुई कोई वस्तु नहीं। गीली लकड़ी को आग पर रखने से हमने एक बार धुआँ उठते देखा, दस बार देखा, हजार बार देखा अतः हमारी कल्पना में यह व्यापार जम गया और हमने निश्चय किया कि गीली लकड़ी आग पर रखने से धुआँ होता है। यदि विचारकर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अंतःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनो-

वेगों की सहायक हैं, वे मनोवेगों के लिये उपयुक्त विषय मात्र ढूँढ़ती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर कल्पना को और मनोवेगों को व्यवस्थित और तीव्र करनेवाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है वह भी करुणा कहलाता है क्योंकि उसमें दया वा करुणा का अंश भी मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की संप्राप्ति किस प्रकार होती है यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्त्तित हो जाता है। अस्तु, प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमें साधारण जनों के उपस्थित दुःख से होती है वही करुणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारण जनों का तो हमें दुःख असह्य होता है पर प्रिय जनों के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी वा दुखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है इसी से इस प्रकार के दुःख वा करुणा को किसी किसी प्रांतिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती हैं—

बन को निकरि गए दोउ भाई ।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई ।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वैहैं, राम लखन दोउ भाई ।

—गीत

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है । श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था पर यशोदा इसी सोच में मरती रही कि—

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन छिन आगो लैहै ?

और उद्धव से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥
उबटन, तेल औ तातो जल देखत ही भजि जाते ।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करिके न्हाते ॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै ॥
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच ।
अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच ॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं कभी कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री संदेह करती है—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश होता है उसे तो मैंने दिखलाया किंतु ऐसे दुःख का प्रधान अंग आत्मपक्ष-संबंधी एक और ही प्रकार का दुःख होता है जिसे शोक कहते हैं। जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिये संसार आप बनाता है। संसार तो कहने सुनने के लिये है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग वा व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके लिये उसके संसार के एक अंश का उठ जाना वा जीवन के एक अंग का निकल जाना है। किसी प्रिय वा सुहृद् के चिरवियोग वा मृत्यु के शोक के साथ करुणा वा दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय वा कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छा-पूर्ति के संबंध में अपनी त्रुटियों को स्मरणकर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिये जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिये करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा

करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी न किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता, विवेचना द्वारा निश्चित, इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन की प्रवृत्ति-कारिणी प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी संभावना है इस बात वा उद्देश का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुंडे मुंडे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज-रक्षा के लिये एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत से वक्ता ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक ये समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं तो हमारी दया मोटे, मुसंडे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता

है। दुखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही वा पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के विशेषतः अपने परिचितों के क्लेश वा करुणा पर जो वेगरहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में अब इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहारक्षेत्र में घुसकर सच्चाई को चरती चली जा रही है।

करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा वा प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखलाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। उद्वेगशील बँगला उपन्यासलेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान वा उपलब्ध ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश और काल-संबंधी विस्तार बढ़ाता है। उपस्थित विषय के संबंध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिये यह विस्तार कभी कभी आवश्यक होता है। मनोवेगों की उपयुक्तता कभी कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है पर जब सुनते हैं कि कई स्थानों पर कई बार वह बड़े बड़े अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा तब हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि केवल मनोवेगों के सहायक हैं अर्थात् प्रकारांतर से वे मनोवेगों के लिये विषय उपस्थित करते हैं। ये कभी तो आप से आप विषयों को मन के सामने लाते हैं; कभी किसी विषय के सामने आने पर ये उससे संबंध (पूर्वापर वा कार्य कारण-संबंध) रखनेवाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सबके सब एक ही मनोवेग के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न भिन्न मनोवेगों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को परिवर्त्तित वा धीमा

करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग वा प्रवृत्ति को मंद करनेवाली, स्मृति, अनुमान वा बुद्धि आदि कोई दूसरी अंतः-करण-वृत्ति नहीं है, मन की रागात्मिका क्रिया वा अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग वा प्रवृत्ति ही में है। नीतिज्ञों और धार्म्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंध-निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिये कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिये अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध वा घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य, हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनु-

सार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना बनाकर, कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनंद छोड़ो। बस हाथ पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात, पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो चार बार उसे दया उत्पन्न होगी पर जब बार बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेग के अनुसारी परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया हो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य

पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य्य करने की कौन कहे उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। अब नियम को लीजिए। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे अकिंचन को देख, जिसके पास एक पैसा भी न होगा दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चंद्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी दुखिया स्त्री होती तो राजा हरिश्चंद्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है इससे राजा हरिश्चंद्र के नियमपालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से उपयुक्त प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिए तो न्याय यह है कि वह १०००) लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दंड मिले। यदि १०००) लेने के

उपरांत उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यंत शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता गिड़गिड़ाता है और कान पकड़ता है और पूर्ण दंड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए वा जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्ता वा तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किए, वा अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्ता को करुणा है तो वह उसकी शांति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार पाँच सौ अपने पास से दे दे वा दंडित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिये भी करुणा का द्वार खुला है।

—रामचंद्र शुक्ल

(११) कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमे कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर सुननेवाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुनकर कविता-गत रस के अनुसार, दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। और जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने जमाने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन

सुनने और उत्तररामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

रोम, इँगलेंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असंभव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौरदौरा था वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परंतु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञानवृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है। क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है*। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका है,

* देखो लार्ड मैकाले (Macaulay) की प्रसिद्ध उक्ति "As Civilization advances, Poetry declines."

जो नए कवि होते हैं वे भी उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं, इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे। परंतु परतंत्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन, हो जाती है। सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करनेवाले कवियों की युक्तियों का प्रभाव चीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिये कोई रोक न होनी चाहिए। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन,

पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है; वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं, कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है; परंतु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार हैं? किसी कवि की बे-सिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनंद प्राप्ति हो सकती है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह

की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, आशिक-माशूकों के रंगोन रहस्यों से आप उसे आरंभ से अंत तक रँगी हुई पाइएगा। इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहनेवालों का सारा रोना, कराहना, ठंढी साँसें लेना, जीते ही अपनी कब्रों पर चिराग जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैए, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नख-सिख, नायिका भेद, अलंकार-शास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ, बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली

बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रंथकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोलचाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हों का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के संबंध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटा अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नए तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निंदा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छंदःप्रभाकर" में दिए गए लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आए हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव काँव? इसी तरह की नुकताचीनी से तंग आकर अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को संबोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेक़दरी का जमाना है। लोगों के चित्त

का तेरी तरफ खिंचना तो दूर रहा, उलटा सब कहीं तेरी निंदा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर मैं घमंड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनंद से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करनेवाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो 'पोयटरी' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नहीं, संस्कृत का प्रायः सारा पद्य समूह बिना तुकबंदी का है। और संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो। अरब में भी

सैकड़ों अच्छे अच्छे कवि हो गए हैं। वहाँ भी शुरू शुरू में तुकबंदी का बिलकुल खयाल नहीं था। अँगरेजी में भी अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात जरूर है कि वजन और काफिए से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है*। पर कविता के लिये ये बातें ऐसी हैं जैसे कि शरीर के लिये वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिये काफिए वगैरह की जरूरत है, कविता के लिये नहीं। कविता के लिये तो ये बातें एक प्रकार से उलटा हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिये एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपने स्वाभाविक उड्डान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता पूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वजन उसकी स्वाधीनता-में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतंत्रता से नहीं प्रकट करने देते। काफिए और वजन को पहले ढूँढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है।

---

*Oscar Wilde तुकबंदी को A Spiritual element of thought and passion कहता है।

और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय, कि सुननेवालों पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है। आज-कल हिंदी के पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़कर समझते हैं। कोई संपादक के खिलाफ नाटक, प्रहसन और व्यंगपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शांत करते हैं।

कवि का सबसे बडा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिये इमैजिनेशन (imagination) की बड़ी जरूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिये उपज चाहिए। नए नए भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं होती वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसलिये संस्कृतवालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। उसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले

ढंग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुननेवाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर छोर नहीं। वह अनंत है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है; उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है। प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार के विकार-तरंग उसके मन में उठा ही करते हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनु-भव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनु-

भव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुननेवाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगाता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ़ ढूँढ़कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुनने-वालों की आँखों के सामने वर्ण्य विषय का एक चित्र सा खींच दे। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसी लिये कवि को चुन चुनकर ऐसे शब्द रखना चाहिए, और इस क्रम से रखना चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय। उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्तिक शब्दस्थापना के बिना कवि की कविता तादृश हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्दस्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके

पास काफी शब्द-समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किए हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो*। सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्दसमूह ही सादा हो, किंतु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो जो उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो। कविता पढ़ने या सुननेवाले को ऐसी साफ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कंकर, पत्थर, टीले, खंदक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो जिससे उस पर चलनेवाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क जरा भी ऊँची नीची होने से पैरगाड़ी के सवार को दचके लगते हैं उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी सी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना

* "Poetry should be simple, sensuous and impassioned"

नहीं रहता। कवितारूपी सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों; दोनों तरफ फलों फूलों से लदे हुए पेड़ हों; जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों; प्राकृतिक दृश्यों की नई नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनिया में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अंधकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखा शब्द-झंकार ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बंद कर दें *। भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचोदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं।

* इस प्रकार के कवियों के लिये अँगरेजी के प्रसिद्ध लेखक कारलाइल (Carlyle) की शिक्षा ध्यान देने योग्य है—"Why sing your bits of thought, if you can contrive to speak them? By your thought, not by your mode of delivering it, you must live or die."

इसी तरह कवि को मुहावरे का भी खयाल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्वसम्मत है वही प्रयोग करना चाहिए। हिंदी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का खयाल रखा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उसका उलटा ही क्यों न समझते हों।

परंतु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए। क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं—अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतंत्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को एक नए साँचे में ढालकर

कुछ दूर तक इधर उधर की उड़ान भी कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के संबंध में उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द-प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जिन बातों का होना संभव है, वही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानों उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गए हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं; किंतु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिये उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देखकर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने के लिये विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीजों में बोलने की शक्ति होती

तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। संभव है शब्द जोरदार न हों पर जोश उसमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परंतु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना जानते हैं वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परंतु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परंतु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे कवि धन्य हैं; और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

(१२) सच्ची वीरता

सच्चे वीर पुरुष धीर, गंभीर और आजाद होते हैं। उनके मन की गंभीरता और शांति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चंचल नहीं होते। रामायण में वाल्मीकि जी ने कुंभकरण की गाढ़ी नींद में वीरता का एक चिह्न दिखलाया है। सच है, सच्चे वीरों की नींद आसानी से नहीं खुलती। वे सत्वगुण के क्षीर-समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया की खबर ही नहीं होती। वे संसार के सच्चे परोपकारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं। जब ये शेर जागकर गर्जते हैं, तब सदियों तक इनकी आवाज की गूँज सुनाई देती रहती है, और सब आवाजें बंद हो जाती हैं। वीर की चाल की आहट कानों में आती रहती है और कभी मुझे और कभी तुझे मद-मत्त करती है। कभी किसी की और कभी किसी की प्राण-सारंगी वीर के हाथ से बजने लगती है।

देखो, हरा की कंदरा में एक अनाथ, दुनिया से छिपकर, एक अजीब नींद सोता है। जैसे गली में पड़े हुए पत्थर की ओर कोई ध्यान नहीं देता, वैसे ही आम आदमियों की तरह इस अनाथ को कोई न जानता था। एक उदारहृदया धन-

संपन्ना स्त्री की वह नौकरी करता है। उसकी सांसारिक प्रतिष्ठा सिर्फ एक मामूली गुलाम की सी है। पर कोई ऐसा दैवी कारण हुआ जिससे संसार में अज्ञात उस गुलाम की बारी आई। उसकी निद्रा खुली। संसार पर मानों हजारों बिजलियाँ गिरीं। अरब के रेगिस्तान में बारूद की सी भड़क उठी। उसी वीर की आँखों की ज्वाला इंद्रप्रस्थ से लेकर स्पेन तक प्रज्वलित हुई। उस अज्ञात और गुप्त हरा की कंदरा में सोनेवाले ने एक आवाज दी। सारी पृथ्वी भय से काँपने लगी। हाँ, जब पैगंबर मुहम्मद ने "अल्लाहो अकबर" का गीत गाया तब कुल संसार चुप हो गया। और, कुछ देर बाद, प्रकृति उसकी आवाज की गूँज को सब दिशाओं में ले उड़ी। पक्षी "अल्लाह" गाने लगे और मुहम्मद के पैगाम को इधर उधर ले उड़े। पर्वत उसकी वाणी को सुनकर पिघल पड़े और नदियाँ "अल्लाह, अल्लाह" का अलाप करती हुई पर्वतों से निकल पड़ीं। जो लोग उसके सामने आए वे उसके दास बन गए। चंद्र और सूर्य्य ने बारी बारी से उठकर सलाम किया। उस वीर का बल देखिए कि सदियों के बाद भी संसार के लोगों का बहुत सा हिस्सा उसके पवित्र नाम पर जीता है और अपने छोटे से जीवन को अति तुच्छ समझकर उस अनदेखे और अज्ञात पुरुष के, केवल सुने सुनाए, नाम पर कुर्बान हो जाना अपने जीवन का सबसे उत्तम फल समझता है।

सत्वगुण के समुद्र में जिनका अंतःकरण निमग्न हो गया वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं। वे लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिये संसार के सब अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर बादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राज-तिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से जर्क बर्क सिंहासन पर बैठनेवाले दुनिया के राजाओं को तो, जो गरीब किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिंडोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। ये जरी, मखमल और जेवरों से लदे हुए मांस के पुतले तो हरदम काँपते रहते हैं। इंद्र के समान ऐश्वर्यवान् और बलवान् होने पर भी दुनिया के ये छोटे "जॉर्ज" बड़े कायर होते हैं। क्यों न हो, इनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती। दुनिया के राजाओं के बल की दौड़ लोगों के शरीर तक है। हाँ, जब कभी किसी अकबर का राज लोगों के दिलों पर होता है तब इन कायरों की बस्ती में मानों एक सच्चा वीर पैदा होता है।

एक बागी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। यह गुलाम कैदी दिल से आजाद था। बादशाह ने कहा—मैं तुमको अभी जान से मार डालूँगा। तुम क्या कर सकते हो? गुलाम बोला—"हाँ, मैं फाँसी पर तो चढ़ जाऊँगा; पर तुम्हारा

तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ।" बस इस गुलाम ने दुनिया के बादशाहों के बल की हद दिखला दी। बस इतने ही जोर और इतनी ही शेखी पर ये झूठे राजा शरीर को दुःख दे और मार पीटकर अनजान लोगों को डराते हैं। भोले लोग उनसे डरते रहते हैं। चूँकि सब लोग शरीर को अपने जीवन का केंद्र समझते हैं; इसलिये जहाँ किसी ने उनके शरीर पर जरा जोर से हाथ लगाया वहीं वे मारे डर के अधमरे हो जाते हैं; केवल शरीर-रक्षा के निमित्त ये लोग इन राजाओं की ऊपरी मन से पूजा करते हैं। जैसे ये राजा वैसा उनका सत्कार! जिनका बल शरीर को जरा सी रस्सी से लटकाकर मार देने भर ही का है, भला, उनका और उन बलवान् और सच्चे राजाओं का क्या मुकाबला जिनका सिंहासन लोगों के हृदय-कमल की पँखड़ियों पर है? सच्चे राजा अपने प्रेम के जोर से लोगों के दिलों को सदा के लिये बाँध देते हैं। दिलों पर हुकूमत करनेवाली फौज, तोप, बंदूक आदि के बिना ही वे शाहंशाह-जमाना होते हैं। मंसूर ने अपनी मौज में आकर कहा—"मैं खुदा हूँ"। दुनिया के बादशाह ने कहा—"यह काफिर है"। मगर मंसूर ने अपने कलाम को बंद न किया। पत्थर मार मारकर दुनिया ने उसके शरीर की बुरी दशा की; परंतु उस मर्द के हर बाल से ये ही शब्द निकले—'अनलहक'—"अहं ब्रह्मास्मि" "मैं ही ब्रह्म हूँ"। मंसूर का सूली पर चढ़ना उसके लिये सिर्फ खेल था। बादशाह ने समझा कि मंसूर मारा गया।

शम्सतबरेज को भी ऐसा ही काफिर समझकर बादशाह ने हुक्म दिया कि इसकी खाल उतार दो। शम्स ने खाल उतारी और बादशाह को, दर्वाजे पर आए हुए कुत्ते की तरह भिखारी समझकर, वह खाल खाने के लिये दे दी। देकर वह अपनी यह गजल बराबर गाता रहा—"भीख माँगनेवाला तेरे दर्वाजे पर आया है; ऐ शाहेदिल! कुछ इसको दे दे।" खाल उतारकर फेंक दी! वाह रे सत्पुरुष!

भगवान् शंकर जब गुजरात की तरफ यात्रा कर रहे थे तब एक कापालिक हाथ जोड़े सामने आकर खड़ा हुआ। भगवान् ने कहा—"माँग, क्या माँगता है?" उसने कहा—"हे भगवन्, आजकल के राजा बड़े कंगाल हैं। उनसे अब हमें दान नहीं मिलता। आप ब्रह्मज्ञानी और सबसे बड़े दानी हैं। इसलिये मैं आपके पास आया हूँ। आप अपनी कृपा से मुझे अपना सिर दान करें जिसकी भेंट चढ़ाकर मैं अपनी देवी को प्रसन्न करूँगा और अपना यज्ञ पूरा करूँगा।" भगवान् ने मौज में आकर कहा—"अच्छा, कल यह सिर उतारकर ले जाना और काम सिद्ध कर लेना।"

एक दफे दो वीर पुरुष अकबर के दर्बार में आए। वे लोग रोजगार की तलाश में थे। अकबर ने कहा—"अपनी अपनी वीरता का सुबूत दो।" बादशाह ने कैसी मूर्खता की। वीरता का भला वे क्या सुबूत देते? परंतु दोनों ने तलवारें निकाल लीं और एक दूसरे के सामने कर उनकी तेज धार पर दौड़

गए और वहीं राजा के सामने क्षण भर में अपने खून में ढेर हो गए।

ऐसे दैवी वीर रुपया, पैसा, माल, धन का दान नहीं दिया करते। जब वे दान देने की इच्छा करते हैं तब अपने आपको हवन कर देते हैं। बुद्ध महाराज ने जब एक राजा को मृग मारते देखा तब अपना शरीर आगे कर दिया जिसमें मृग बच जाय, बुद्ध का शरीर चाहे चला जाय। ऐसे लोग कभी बड़े मौकों का इंतिजार नहीं करते; छोटे मौकों को ही बड़ा बना देते हैं।

जब किसी का भाग्योदय हुआ और उसे जोश आया तब जान लो कि संसार में एक तूफान आ गया। उसकी चाल के सामने फिर कोई रुकावट नहीं आ सकती। पहाड़ों की पसलियाँ तोड़कर ये लोग हवा के बगोले की तरह निगल जाते हैं, उनके बल का इशारा भूचाल देता है और उनके दिल की हरकत का निशान समुद्र का तूफान देता है। कुदरत की और कोई ताकत उनके सामने फटक नहीं सकती। सब चीजें थम जाती हैं। विधाता भी साँस रोककर उनकी राह को देखता है। यूरोप में जब रोम के पोप का जोर बहुत बढ़ गया था तब उसका मुकाबिला कोई भी बादशाह न कर सकता था। पोप की आँखों के इशारे से यूरप के बादशाह तख्त से उतार दिए जा सकते थे। पोप का सिक्का यूरोप के लोगों पर ऐसा बैठ गया था कि उसकी बात को लोग ब्रह्म-वाक्य

से भी बढ़कर समझते थे और पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। लाखों ईसाई साधु-संन्यासी और यूरोप के तमाम गिर्जे पोप के हुक्म की पाबंदी करते थे। जिस तरह चूहे की जान बिल्ली के हाथ में होती है उसी तरह पोप ने यूरोप-वासियों की जान अपने हाथ में कर ली थी। इस पोप का बल और आतंक बड़ा भयानक था। मगर जरमनी के एक छोटे से मंदिर के एक कंगाल पादरी की आत्मा जल उठी। पोप ने इतनी लीला फैलाई थी कि यूरोप में स्वर्ग और नरक के टिकट बड़े बड़े दामों पर बिकते थे। टिकट बेच बेचकर यह पोप बड़ा विषयी हो गया था। लूथर के पास जब टिकट बिक्री होने को पहुँचे तब उसने पहले एक चिट्ठी लिखकर भेजी कि ऐसे काम झूठे तथा पापमय हैं और बंद होने चाहिएँ। पोप ने इसका जवाब दिया—"लूथर! तुम इस गुस्ताखी के बदले आग में जिंदा जला दिए जाओगे।" इस जवाब से लूथर की आत्मा की आग और भी भड़की। उसने लिखा—"अब मैंने अपने दिल में निश्चय कर लिया है कि तुम ईश्वर के तो नहीं किंतु शैतान के प्रतिनिधि हो। अपने आपको ईश्वर के प्रतिनिधि कहनेवाले मिथ्यावादी! जब मैंने तुम्हारे पास सत्यार्थ का संदेश भेजा तब तुमने आग और जल्लाद के नामों से जवाब दिया। इससे साफ प्रतीत होता है कि तुम शैतान के दलदल पर खड़े हो, न कि सत्य की चट्टान पर। यह लो तुम्हारे टिकटों के गट्ठे मैंने आग में फेंके। जो मुझे

करना था मैंने कर दिया; जो अब तुम्हारी इच्छा हो, करो। मैं सत्य की चट्टान पर खड़ा हूँ।" इस छोटे से संन्यासी ने वह तूफान यूरोप में पैदा कर दिया जिसकी एक लहर से पोप का सारा जंगी बेड़ा चकनाचूर हो गया। तूफान में एक तिनके की तरह वह न मालूम कहाँ उड़ गया।

महाराज रणजीतसिंह ने फौज से कहा—"अटक के पार जाओ।" अटक चढ़ी हुई थी और भयंकर लहरें उठी हुई थीं। जब फौज ने कुछ उत्साह प्रकट न किया तब उस वीर को जरा जोश आया। महाराज ने अपना घोड़ा दरिया में डाल दिया। कहा जाता है कि अटक सूख गई और सब पार निकल गए।

दुनिया के जंग के सब सामान जमा हैं। लाखों आदमी मरने मारने को तैयार हो रहे हैं। गोलियाँ पानी की बूँदों की तरह मूसलधार बरस रही हैं। यह देखो, वीर को जोश आया। उसने कहा—"हाल्ट" (ठहरो)। तमाम फौज निःस्तब्ध होकर सकते की हालत में खड़ी हो गई। आल्प्स के पहाड़ों पर फौज ने चढ़ना ज्योंही असंभव समझा त्योंही वीर ने कहा—"आल्प्स है ही नहीं।" फौज को निश्चय हो गया कि आल्प्स नहीं है और सब लोग पार हो गए!

एक भेड़ चरानेवाली और सतोगुण में डूबी हुई युवती कन्या के दिल में जोश आते ही कुल फ्रांस एक भारी शिकस्त से बच गया।

अपने आपको हर घड़ी और हर पल महान् से भी महान् बनाने का नाम वीरता है। वीरता के कारनामे तो एक गौण बात हैं। असल वीर तो इन कारनामों को अपनी दिनचर्य्या में लिखते भी नहीं। पेड़ तो जमीन से रस ग्रहण करने में लगा रहता है। उसे यह खयाल ही नहीं होता कि मुझमें कितने फल या फूल लगेंगे और कब लगेंगे। उसका काम तो अपने आपको सत्य में रखना है—सत्य को अपने अंदर कूट कूटकर भरना है और अंदर ही अंदर बढ़ना है। उसे इस चिंता से क्या मतलब कि कौन मेरे फल खायगा या मैंने कितने फल लोगों को दिए।

वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है। कभी तो उसका विकास लड़ने मरने में, खून बहाने में, तलवार तोप के सामने जान गँवाने में होता है; कभी प्रेम के मैदान में उसका झंडा खड़ा होता है। कभी जीवन के गूढ़ तत्त्व और सत्य की तलाश में बुद्ध जैसे राजा विरक्त होकर वीर हो जाते हैं। कभी किसी आदर्श पर और कभी किसी पर वीरता अपना फरहरा लहराती है। परंतु वीरता एक प्रकार का इलहाम या दैवी प्रेरणा है। जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नजर आया; एक नया जलाल पैदा हुआ; एक नई रौनक, एक नया रंग, एक नई बहार, एक नई प्रभुता संसार में छा गई। वीरता हमेशा निराली और नई होती है। नयापन भी वीरता का एक खास रंग है। हिंदुओं के पुराणों की

वह अलंकारिक कल्पना, जिससे पुराणकारों ने ईश्वरावतारों को अजीब अजीब और भिन्न भिन्न वेष दिए हैं, सच्ची मालूम होती है; क्योंकि वीरता का एक विकास दूसरे विकास से कभी किसी तरह मिल नहीं सकता। वीरता की कभी नकल नहीं हो सकती; जैसे मन की प्रसन्नता कभी कोई उधार नहीं ले सकता। वीरता देश-काल के अनुसार संसार में जब कभी प्रकट हुई तभी एक नया स्वरूप लेकर आई, जिसके दर्शन करते ही सब लोग चकित हो गए—कुछ बन न पड़ा और वीरता के आगे सिर झुका दिया।

जापानी वीरता की मूर्त्ति पूजते हैं। इस मूर्त्ति का दर्शन वे चेरी के फूल की शांत हँसी में करते हैं। क्या ही सच्ची और कौशलमयी पूजा है! वीरता सदा जोर से भरा हुआ ही उपदेश नहीं करती। वीरता कभी कभी हृदय की कोमलता का भी दर्शन कराती है। ऐसी कोमलता देखकर सारी प्रकृति कोमल हो जाती है; ऐसी सुंदरता देखकर लोग मोहित हो जाते हैं। जब कोमलता और सुंदरता के रूप में वह दर्शन देती है तब चेरी-फूल से भी ज्यादा नाजुक और मनोहर होती है। जिस शख्स ने यूरोप को 'क्रूसेड्ज' के लिये हिला दिया वह उन सबसे बड़ा वीर था जो लड़ाई में लड़े थे। इस पुरुष में वीरता ने आँसुओं और आहों का लिबास लिया। देखो, एक छोटा सा मामूली आदमी यूरोप में जाकर रोता है कि हाय हमारे तीर्थ हमारे वास्ते खुले नहीं और यहूद के राजा यूरोप

के यात्रियों को दिक करते हैं। इस आँसू-भरी अपील को सुनकर सारा यूरोप उसके साथ रो उठा। यह आला दरजे की वीरता है।

बुलबुल की छाया को बीमार लोग सब दवाइयों से बढ़कर समझते थे। उसके दर्शनों ही से कितने बीमार अच्छे हो जाते थे। वह अव्वल दर्जे का सच्चा पच्चो है जो बीमारों के सिरहाने खड़ा होकर दिन-रात गरीबों की निष्काम सेवा करता है और गंदे जख्मों को जरूरत के वक्त अपने मुख से चूसकर साफ करता है। लोगों के दिलों पर ऐसे प्रेम का राज्य अटल है। यह वीरता पर्दानशीन हिंदुस्तानी औरत की तरह चाहे कभी दुनिया के सामने न आए, इतिहास के वर्कों के काले हर्फों में न आए, तो भी संसार ऐसे ही बल से जीता है।

वीर पुरुष का दिल सबका दिल हो जाता है। उसका मन सबका मन हो जाता है। उसके खयाल सबके खयाल हो जाते हैं। सबके संकल्प उसके संकल्प हो जाते हैं। उसका बल सबका बल हो जाता है। वह सबका और सब उसके हो जाते हैं।

वीरों के बनाने के कारखाने कायम नहीं हो सकते। वे तो देवदार के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में खुद ब खुद पैदा होते हैं और बिना किसी के पानी दिए, बिना किसी के दूध पिलाए, बिना किसी के हाथ लगाए, तैयार होते हैं। दुनिया के मैदान में अचानक ही सामने आकर वे खड़े हो जाते हैं, उनका सारा जीवन भीतर ही भीतर होता है।

बाहर तो जवाहिरात की खानों की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि में नहीं आता। वीर की जिंदगी मुश्किल से कभी कभी बाहर नजर आती है। उसका स्वभाव तो छिपे रहने का है।

वह लाल गुदड़ियों के भीतर छिपा रहता है। कंदराओं में, गोरों में, छोटी छोटी झोपड़ियों में बड़े बड़े वीर महात्मा छिपे रहते हैं। पुस्तकों और अखबारों को पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइँग हाल के वीर पैदा होते हैं; उनकी वीरता अनजान लोगों से अपनी स्तुति सुनने तक खतम हो जाती है। असली वीर तो दुनिया की बनावट और लिखावट के मखौलों के लिये नहीं जीते।

हर बार दिखाव और नाम की खातिर छाती ठोंककर आगे बढ़ना और फिर पीछे हटना पहले दरजे की बुजदिली है। वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा सी चीज है। वह सिर्फ़ एक बार के लिये काफी है। मानों इस बंदूक में एक ही गोली है। हाँ, कायर पुरुष इसको बड़ा ही कीमती और कभी न टूटनेवाला हथियार समझते हैं। हर घड़ी आगे बढ़कर, और यह दिखाकर कि हम बड़े हैं, वे फिर पीछे इस गरज से हट जाते हैं कि उनका अनमोल जीवन किसी और अधिक बड़े काम के लिये बच जाय। बादल गरज गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं, परंतु बरसनेवाले बादल जरा देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं।

कायर पुरुष कहते हैं—"आगे बढ़े चलो।" वीर कहते हैं—"पीछे हटे चलो"। कायर कहते हैं—"उठाओ तल-वार"। वीर कहते हैं—"सिर आगे करो"। वीर का जीवन प्रकृति ने अपनी शक्तियों को फजूल खो देने के लिये नहीं बनाया है। वीर पुरुष का शरीर कुदरत की कुल ताकतों का भंडार है। कुदरत का यह मरकज हिल नहीं सकता। सूर्य का चक्कर हिल जाय तो हिल जाय, परंतु वीर के दिल में जो दैवी केंद्र है वह अचल है। कुदरत के और पदार्थों की पालिसी चाहे आगे बढ़ने की हो, अर्थात् अपने बल को नष्ट करने की हो, मगर वीरों की पालिसी बल को हर तरह इकट्ठा करने और बढ़ाने की होती है। वीर तो अपने अंदर ही 'मार्च' करते हैं; क्योंकि हृदयाकाश के केंद्र में खड़े होकर वे कुल संसार को हिला सकते हैं।

बेचारी मरियम का लाड़ला, खूबसूरत जवान, अपने मद में मतवाला और अपने आपको शाहंशाह हकीकी कहनेवाला ईसा मसीह क्या उस समय कमजोर मालूम होता है जब भारी सलीब पर उठकर कभी गिरता, कभी जख्मी होता और कभी बेहोश हो जाता है? कोई पत्थर मारता है, कोई ढेला मारता है, कोई थूकता है, मगर उस मर्द का दिल नहीं हिलता। कोई क्षुद्रहृदय और कायर होता तो अपनी बादशाहत के बल की गुत्थियाँ खोल देता; अपनी ताकत को नष्ट कर देता; और संभव है कि एक निगाह से उस सल्तनत के तख्ते को उलट

देता और मुसीबत को टाल देता, परंतु जिसको हम मुसीबत जानते हैं उसको वह मखौल समझता था। "सूली मुझे है सेज पिया की सोने दो मीठी मीठी नींद है आती।" अमर ईसा को भला दुनिया के विषय-विकार में डूबे लोग क्या जान सकते थे ? अगर चार चिड़ियाँ मिलकर मुझे फाँसी का हुक्म सुना दें और मैं उसे सुनकर रो दूँ या डर जाऊँ तो मेरा गौरव चिड़ियों से भी कम हो जाय। जैसे चिड़ियाँ मुझे फाँसी देकर उड़ गईं वैसे ही बादशाह और बादशाहतें आज खाक में मिल गई हैं। सचमुच ही वह छोटा सा बाबा लोगों का सच्चा बादशाह है। चिड़ियों और जानवरों की कचहरियों के फैसलों से जो डरते या मरते हैं वे मनुष्य नहीं हो सकते। रानाजी ने जहर के प्याले से मीराबाई को डराना चाहा। मगर वाह री सचाई ! मीरा ने उस जहर को भी अमृत मान-कर पी लिया। वह शेर और हाथी के सामने की गई, मगर वाह रे प्रेम ! मस्त हाथी और शेर ने देवी के चरणों की धूल को अपने मस्तक पर मला और अपना रास्ता लिया। इस-वास्ते वीर पुरुष आगे नहीं, पीछे जाते हैं। भीतर ध्यान करते हैं। मारते नहीं, मरते हैं।

वह वीर क्या जो टीन के बर्तन की तरह झट गरम और झट ठंढा हो जाता है। सदियों नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही वीर गरम हो और हजारों वर्ष बर्फ़ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उसकी वाणी तक ठंढी हो।

उसे खुद गरम और सर्द होने से क्या मतलब ? कारलायल को जो आजकल की सभ्यता पर गुस्सा आया तो दुनिया में एक नई शक्ति और एक नई जबान पैदा हुई। कारलायल अँगरेज जरूर है; पर उसकी बोली सबसे निराली है। उसके शब्द मानों आग की चिनगारियाँ हैं जो आदमी के दिलों में आग सी लगा देती हैं। सब कुछ बदल जाय मगर कारलायल की गरमी कभी कम न होगी। यदि हजार वर्ष संसार में दुखड़े और दर्द रोए जायँ तो भी बुद्धि की शांति और दिल की ठंढक एक दर्जा भी इधर उधर न होगी। यहाँ आकर भौतिक विज्ञान के नियम रो देते हैं। हजारों वर्ष आग जलती रहे तो भी थर्मामीटर जैसा का तैसा ही रहेगा। बाबर के सिपाहियों ने और लोगों के साथ गुरु नानक को भी बेगार में पकड़ लिया। उनके सिर पर बोझ रखा और कहा—"चलो"। आप चल पड़े। दौड़, धूप, बोझ, मुसीबत, बेगार में पकड़ी हुई स्त्रियों का रोना, शरीफ लोगों का दुःख, गाँव के गाँव का जलना सब किस्म की दुखदायी बातें हो रही हैं। मगर किसी का कुछ असर नहीं हुआ। गुरु नानक ने अपने साथी मर्दाना से कहा—"सारंगी बजाओ, हम गाते हैं"। उस भीड़ में सारंगी बज रही है और आप गा रहे हैं। वाह री शांति !

अगर कोई छोटा सा बच्चा नेपोलियन के कंधे पर चढ़कर उसके सिर के बाल खींचे तो क्या नेपोलियन इसको अपनी बेइज्जती समझकर उस बालक को जमीन पर पटक देगा,

जिसमें लोग उसको बड़ा वीर कहें ? इसी तरह सच्चे वीर जब उनके बाल दुनिया की चिड़ियाँ नोचती हैं, तब कुछ परवा नहीं करते। क्योंकि उनका जीवन आसपासवालों के जीवन से निहायत ही बढ़ चढ़कर ऊँचा और बलवान् होता है। भला ऐसी बातों पर वीर कब हिलते हैं। जब उनकी मौज आई तभी मैदान उनके हाथ है।

जापान के एक छोटे से गाँव की एक झोपड़ी में छोटे कद का एक जापानी रहता था। उसका नाम ओशियो था। यह पुरुष बड़ा अनुभवी और ज्ञानी था। बड़े कड़े मिजाज का, स्थिर, धीर और अपने खयालात के समुद्र में डूबा रहनेवाला पुरुष था। आसपास रहनेवाले लोगों के लड़के इस साधु के पास आया जाया करते थे और यह उनको मुफ्त पढ़ाया करता था। जो कुछ मिल जाता वही खा लेता था। दुनिया की व्यावहारिक दृष्टि से वह एक किस्म का निखट्टू था। क्योंकि इस पुरुष ने संसार का कोई बड़ा काम नहीं किया था। उसकी सारी उम्र शांति और सत्वगुण में गुजर गई थी। लोग समझते थे कि वह एक मामूली आदमी है। एक दफा इत्तिफाक से दो तीन फसलों के न होने से इस फकीर के आसपास के मुल्क में दुर्भिक्ष पड़ गया। दुर्भिक्ष बड़ा भयानक था। लोग बड़े दुखी हुए। लाचार होकर इस नंगे, कंगाल फकीर के पास मदद माँगने आए। उसके दिल में कुछ खयाल हुआ। उनकी मदद करने को वह तैयार हो गया।

पहले वह ओसाको नामक शहर के बड़े बड़े धनाढ्य और भद्र पुरुषों के पास गया और उनसे मदद माँगी। इन भलेमानसों ने वादा तो किया, पर उसे पूरा न किया। ओशियो फिर उनके पास कभी न गया। उसने बादशाह के वजीरों को पत्र लिखे कि इन किसानों को मदद देनी चाहिए। परंतु बहुत दिन गुजर जाने पर भी जवाब न आया। ओशियो ने अपने कपड़े और किताबें नीलाम कर दीं। जो कुछ मिला, मुट्ठी भर-कर उन आदमियों की तरफ फेंक दिया। भला इससे क्या हो सकता था? परंतु ओशियो का दिल इससे पूर्ण शिव रूप हो गया। यहाँ इतना जिक्र कर देना काफी होगा कि जापान के लोग अपने बादशाह को पिता की तरह पूजते हैं। उनके हृदय की यह एक वासना है। ऐसी कौम के हजारों आदमी इस वीर के पास जमा हैं। ओशियो ने कहा—"सब लोग हाथ में बाँस लेकर तैयार हो जाओ और बगावत का झंडा खड़ा कर दो।" कोई भी चूँ वा चरा न कर सका। बगावत का झंडा खड़ा हो गया। ओशियो एक बाँस पकड़कर सबके आगे किओटो जाकर बादशाह के किले पर हमला करने के लिये चला। इस फकीर जनरल की फौज की चाल को कौन रोक सकता था? जब शाही किले के सरदार ने देखा तब उसने रिपोर्ट की और आज्ञा माँगी कि ओशियो और उसकी बागी फौज पर बंदूकों की बाढ़ छोड़ी जाय? हुक्म हुआ कि "नहीं, ओशियो तो कुदरत के सब्ज वर्कों को पढ़नेवाला है। वह किसी खास

बात के लिये चढ़ाई करने आया होगा। उसको हमला करने दो और आने दो।" जब ओशियो किले में दाखिल हुआ तब वह सरदार इस मस्त जनरल को पकड़कर बादशाह के पास ले गया। उस वक्त ओशियो ने कहा—वे राजभांडार, जो अनाज से भरे हुए हैं, गरीबों की मदद के लिये क्यों नहीं खोल दिए जाते ?

जापान के राजा को डर सा लगा। एक वीर उसके सामने खड़ा था, जिसकी आवाज में दैवी शक्ति थी। हुक्म हुआ कि शाही भांडार खोल दिए जायँ और सारा अन्न दरिद्र किसानों को बाँटा जाय। सब सेना और पुलिस धरी की धरी रह गई। मंत्रियों के दफ्तर लगे के लगे रहे। ओशियो ने जिस काम पर कमर बाँधी उसको कर दिखाया। लोगों की विपत्ति कुछ दिनों के लिये दूर हो गई। ओशियो के हृदय की सफाई, सचाई और दृढ़ता के सामने भला कौन ठहर सकता था ? सत्य की सदा जीत होती है। यह भी वीरता का एक चिह्न है। रूस के जार ने सब लोगों को फाँसी दे दी। किंतु टालसटाय को वह दिल से प्रणाम करता था; उनकी बातों का आदर करता था। जय वहीं होती है जहाँ कि पवित्रता और प्रेम है। दुनिया किसी कूड़े के ढेर पर नहीं खड़ी है कि जिस मुर्ग ने बाँग दी वही सिद्ध हो गया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमों पर खड़ी है। जो अपने आपको उन नियमों के साथ अभिन्नता करके

खड़ा हुआ वह विजयी हो गया। आजकल लोग कहते हैं कि काम करो, काम करो। पर हमें तो ये बातें निरर्थक मालूम होती हैं। पहले काम करने का बल पैदा करो—अपने अंदर ही अंदर वृक्ष की तरह बढ़ो। आजकल भारतवर्ष में परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको १०५ डिग्री का यह बुखार चढ़ा वह आजकल के भारतवर्ष का ऋषि हो गया। आजकल भारतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहाँ किसी ने एक दो काम किए और आगे बढ़कर छाती दिखाई तहाँ हिंदुस्तान के सारे अखबारों ने "हीरो" और "महात्मा" की पुकार मचाई। बस एक नया वीर तैयार हो गया। ये तो पागलपन की लहरें हैं। अखबार लिखनेवाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते हैं। उनकी स्तुति और निंदा पर क्यों मरे जाते हो? अपने जीवन को अखबारों के छोटे छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्यों लटका रहे हो? क्या यह सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जानें अखबारों के लेखों में हैं? जहाँ इन्होंने रंग बदला कि हमारे वीरों के रंग बदले, ओंठ सूखे और वीरता की आशाएँ टूट गईं।

प्यारे, अंदर के केंद्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चंचलता में अपने आपको न खो दो। वीर नहीं तो वीरों के अनुगामी हो और वीरता के काम नहीं तो धीरे धीरे अपने अंदर वीरता के परमाणुओं को जमा करो।

जब हम कभी वीरों का हाल सुनते हैं तब हमारे अंदर भी वीरता की लहरें उठती हैं और वीरता का रंग चढ़ जाता है। परंतु वह चिरस्थायी नहीं होता। इसका कारण सिर्फ यही है कि हमारे भीतर वीरता का मसाला तो होता नहीं। हम सिर्फ खाली महल उसके दिखलाने के लिये बनाना चाहते हैं। टीन के बरतन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केंद्र में निवास करो और सचाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। अपनी जिंदगी किसी और के हवाले करो ताकि जिंदगी के बचाने की कोशिशों में कुछ भी वक्त जाया न हो। इसलिये बाहर की सतह को छोड़कर जीवन के अंदर की तहों में घुस जाओ; तब नए रंग खुलेंगे। द्वेष और भेददृष्टि छोड़ो; रोना छुट जायगा। प्रेम और आनंद से काम लो; शांति की वर्षा होने लगेगी और दुखड़े दूर हो जायँगे। जीवन के तत्त्व का अनुभव करके चुप हो जाओ; धीर और गंभीर हो जाओगे। वीरों की, फकीरों की, पीरों की यह कूक है—हटो पीछे, अपने अंदर जाओ, अपने आपको देखो, दुनियाँ और की और हो जायगी। अपनी आत्मिक उन्नति करो।

—पूर्णसिंह

मनोरंजन पुस्तकमाला

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।

(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।

(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।

(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।

(५) „ २ „ „ „

(६) „ ३ „ „ „

(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।

(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।

(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपति जानकीराम दूबे बी० ए०।

(१०) भौतिक-विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०, एल० टी०।

(११) लालचीन—लेखक बृजनंदन सहाय।

(१२) कबीर-वचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।

(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी० ए० ।

(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा ।

(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।

(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमार-देव शर्म्मा ।

(१७) वीरमणि—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए० ।

(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक राधामोहन गोकुलजी ।

(१९) शासन-पद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार ।

(२०) हिन्दुस्तान भाग १—लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी०ए० ।

(२१) " भाग २—लेखक " "

(२२) महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद ।

(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०, एल० टी० ।

(२४) आत्मशिक्षण—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए० ।

(२५) सुंदरसार—संग्रहकर्त्ता पुरोहित हरिनारायण शर्मा बी० ए० ।

(२६) जर्मनी का विकास भाग १—लेखक सूर्यकुमार वर्मा ।

(२७) जर्मनी का विकास भाग २—लेखक सूर्यकुमार वर्मा।
(२८) कृषि-कौमुदी—लेखक दुर्गाप्रसादसिंह ।
(२९) कर्त्तव्यशास्त्र—लेखक गुलाबराय एम० ए०, एल-एल० बी० ।
(३०) मुसलमानी राज्य का इतिहास भाग १—लेखक मन्नन द्विवेदी बी० ए० ।
(३१) " भाग २—लेखक मन्नन द्विवेदी बी० ए० ।
(३२) रणजीतसिंह—लेखक वेणीप्रसाद ।
(३३) विश्व-प्रपंच भाग १—लेखक रामचंद्र शुक्ल ।
(३४) " भाग २— " "
(३५) अहिल्याबाई—लेखक गोविंदराम केशवराम जोशी ।
(३६) रामचंद्रिका—संकलनकर्ता भगवानदीन ।
(३७) ऐतिहासिक कहानियाँ—लेखक द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी।
(३८) हिंदी निबंधमाला भाग १—संग्रहकर्त्ता श्यामसुंदर-दास बी० ए०।
(३९) " भाग २—संग्रहकर्त्ता "
(४०) सूरसुधा—संपादक मिश्रबंधु ।
(४१) कर्त्तव्य—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।
(४२) संक्षिप्त राम-स्वयंवर—लेखक व्रजरत्नदास ।
(४३) शिशु-पालन—लेखक डाक्टर मुकुंदस्वरूप वर्म्मा ।